राजनीति विज्ञान
एक परिचय

(कक्षा XI के लिए पाठ्यपुस्तक)

लेखक

एस.एन. झा

संपादक

नलिनी पंत

अनुवादक

बी.पी. पांडेय

एम.एल. साहनी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
सितंबर 2002
भाद्रपद 1924

ISBN 81-7450-088-X

PD 35T SC

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्लू.सी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	32, बी.टी. रोड, सुखचर
नई दिल्ली 110016	**बैंगलूर 560085**	**अहमदाबाद 380014**	**24 परगना 743179**

प्रकाशन सहयोग

संपादन : शशि चड्डा
उत्पादन : प्रमोद रावत
राजेन्द्र चौहान
आवरण : अमित श्रीवास्तव

रु. ***24.00***

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित ।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा एस.के. कम्युनिकेशन्स, जे/92, श्रीनिवास पुरी नई दिल्ली 110065 द्वारा लेज़र टाईपसैट होकर तरंग प्रिंटर्स, बी-50, कृष्णा कुंज एक्सटेंशन-II, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092 द्वारा मुद्रित ।

प्राक्कथन

राजनीति विज्ञान उच्चतर माध्यमिक स्तर पर एक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। विद्यालयी शिक्षा के माध्यमिक स्तर पर नागरिक शास्त्र का अध्ययन सामाजिक विज्ञान के घटक के रूप में किया जाता है तथा इसकी विषय-वस्तु का पठन-पाठन राजनीति विज्ञान के वैषयिक दृष्टिकोण से नही, बल्कि सामान्य ढंग से होता है। विद्यालयी शिक्षा के पहले दस वर्षो में विद्यार्थी, नागरिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के कार्यान्वयन और भारत तथा विश्व की समसामयिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं। सामान्य शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप दस वर्षो मे विद्यार्थियों मे विभिन्न नागरिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं की सही समझ के विकास पर बल दिया जाता है। इन विषय-वस्तुओ को माध्यमिक स्तर तक समेकित सामाजिक विज्ञान पाठ्यक्रम में एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में समाविष्ट किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक *राजनीति विज्ञान : एक परिचय*, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा – 2000* के आधार पर विकसित राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम पर आधारित एक नई पाठ्यपुस्तक है। यह पुस्तक विद्यार्थियों में नए पाठ्यक्रम के अभिगम के अनुरूप राजनीति विज्ञान के सिद्धांत एवं मूल तत्त्वो में अभिरूचि उत्पन्न करने का प्रयास करती है। साथ ही, इस पुस्तक मे राजनीतिक वैज्ञानिको द्वारा राजनीतिक तथ्यो के अध्ययन के लिए प्रयोग मे लाए जाने वाले उपागमों की जानकारी देने का भी प्रयत्न किया गया है।

विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में चर्चित कुछ केंद्रिक शिक्षा क्षेत्रों को इस पुस्तक के संबंधित अध्यायों में समाहित किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अंत में विद्यार्थियों के लिए कुछ अभ्यास के प्रश्न दिए गए हैं। साथ ही, पुस्तक की उपयोगिता बढाने के लिए इसके अंत में पद-वाक्यों की व्याख्या भी दी गई है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) इस पुस्तक के विद्वान लेखक एवं अनुवादकों के प्रति आभारी है, जिन्होंने इसकी पाडुलिपि तैयार की। इस पांडुलिपि का विषय-विशेषज्ञो तथा अनुभवी शिक्षकों के द्वारा पूरी तरह से पुनरीक्षण किया गया। एन.सी.ई.आर.टी. उन विषय-विशेषज्ञो तथा शिक्षकों के प्रति भी आभारी है जिनके द्वारा दिए गए सुझावो के आधार पर पाडुलिपि को अंतिम रूप दिया गया।

इस पुस्तक के किसी भी पहलू पर पाठकों के सुझावों एवं उनकी टिप्पणियों का हम स्वागत करेंगे।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
अगस्त 2002

भारत का संविधान

भाग 4अ

नागरिकों के मूल कर्त्तव्य

अनुच्छेद 51अ

मूल कर्त्तव्य-भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसत्ता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधरित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरूद्ध हो,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्रणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

पाठ्यपुस्तक समीक्षा समिति

प्रो एस.एन. झा
अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

नलिनी पंत
अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर
बनारस हिदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा. आर.के आनंद
निदेशक
पत्राचार पाठ्यक्रम सस्थान
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डा. बी.पी. पांडेय
रीडर, राजनीति विज्ञान
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्री पी.एस. खरे
अवकाश-प्राप्त प्राचार्य
अग्रसेन इंटर कालेज,
इलाहाबाद, उ.प्र.

श्री एस.एम. शर्मा
अवकाश-प्राप्त उपप्राचार्य
एस.बी.एस.सी.सेकंडरी स्कूल
लाजपत नगर
नई दिल्ली

श्री आर.एस.पसरीचा
अवकाश-प्राप्त उपप्राचार्य
डी.ए.वी.स्कूल
यूसुफ सराय, नई दिल्ली

डा. आर.के. बतरा
अवकाश-प्राप्त उपप्राचार्य
रा बाल.एस. उच्च विद्यालय
सरोजिनी नगर
नई दिल्ली

श्री एम.एल.साहनी
प्राध्यापक,राजनीति विज्ञान
राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
सेक्टर-VII, आर के पुरम
नई दिल्ली

श्रीमती वर्षा मानकू
प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान
कुलाची हंसराज मॉडल स्कूल
अशोक विहार, नई दिल्ली

श्री बी.के. गुप्ता
प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान
कमर्शियल वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
दरियागंज, नई दिल्ली

डा. संजय दुबे
रीडर, राजनीति विज्ञान
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा
विभाग, एन.सी.ई आर.टी.
नई दिल्ली

श्रीमती सुप्ता दास (**समन्वयक**)
सलेक्शन ग्रेड लेक्चरर, राजनीति विज्ञान
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा
विभाग एन.सी ई.आर.टी.
नई दिल्ली

विषय-सूची

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो० क० गांधी

अध्याय 1

राजनीति विज्ञान
अर्थ और विषय क्षेत्र

आधुनिक समाज का कोई भी नागरिक जो दैनिक समाचारपत्र पढ़ता है, उसका यह मानना न्यायसंगत है कि उसे राजनीति की समझ है, लेकिन राजनीतिक वैज्ञानिकों का यह मानना है कि राजनीति को समझना उनका विशेष कार्य है। सामान्य आदमी की दृष्टि में, राजनीति एक 'गंदा खेल है', वह 'कुटिल प्रक्रिया' से सबद्ध है, और 'राजनीति खेलना' अथवा 'राजनीति करना' जैसे घृणित व्यवहार प्रायः देखने में आते है। लेकिन हम देखते हैं कि कोई मानव समूह, संघ अथवा समाज 'राजनीति' से मुक्त नहीं है। अधिकांश जटिल समस्याएं राजनीतिक समाधान की मांग करती हैं। विभिन्न परस्पर विरोधों का निराकरण राजनीतिक साधनों से ही किया जा सकता है। ऐसे राजनीतिज्ञ जिन्हें हम राजनीतिबाज भी कह सकते हैं, विभिन्न तिरस्कारात्मक शब्दो, जैसे 'सत्तालोलुप' इत्यादि से संबोधित किए जाते हैं लेकिन समाज में उन्हें जो स्थान व सुविधाएं प्राप्त होती हैं, बहुत-से लोग उन्हें पाने के लिए लालायित रहते हैं। यूनानी दार्शनिक प्लेटो से लेकर आज तक के जितने भी चिंतक आदर्श लोक की कल्पना करते हैं, अंततः किसी-न-किसी रूप में समाज के राजनीतिक पुनर्गठन की बात स्वीकार करते हैं।

राजनीति शास्त्र के विषय क्षेत्र को परिभाषित करने के प्रयास मे एक राजनीति वैज्ञानिक को 'राजनीति' समझाने की दिशा मे ऐसे विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है जो परस्पर अंतर्विरोधी शब्दावलियों से जाने जाते है। जहां एक ओर हम इसे एक कुटिल प्रक्रिया या एक गंदा खेल मानते हैं तो वहीं दूसरी ओर इसे सभी स्थानों और सभी समाजों में व्याप्त जटिल समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में लिया जाता है: जहां एक ओर इसे सत्तालोलुपता के रूप मे हेय समझा जाता है तो वही दूसरी ओर उसे पाने की आकांक्षा भी दिखाई देती है। राजनीतिक वैज्ञानिक को इन विरोधाभासों की स्पष्ट व्याख्या करनी होगी। राजनीति शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से होता है- स्थानीय क्लबों और परिवारों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ तक। इन समूहो मे कुछ स्तरों पर प्रचलित गतिविधियों को 'राजनीति' की संज्ञा दी जाती है। राजनीति की किसी भी परिभाषा द्वारा इन परस्पर विरोधी व जटिल अर्थों को और साथ ही साथ राजनीतिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का महत्त्व

राजनीति विज्ञान जिन विषयों का अध्ययन करता है वे सामान्य भी हैं और विशिष्ट भी। संघर्ष और

एकीकरण की प्रक्रियाओं, उनके पारस्परिक व शक्ति संगठन से संबद्ध होने के कारण यह पूर्णतः व्यापक है। इस प्रकार यह व्यक्तियों, समूहों तथा समाज की समस्त गतिविधियों में विद्यमान है। ये प्रक्रियाएं समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। एक विशिष्ट अर्थ में, इसका संबंध राज्य और सरकार की संस्थाओं से है जिनका समाज पर प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा प्रभाव होता है। अन्य सामाजिक संगठनो से भिन्न सरकारी संगठन की यह विशेषता है कि किसी भी आधुनिक समाज का कोई भी व्यक्ति उसकी नियंत्रण-सीमा से बाहर नहीं है। राज्य के कानून सभी को नियंत्रित तथा प्रभावित करते हैं। इस आधार पर यह एक 'अनिवार्य' संगठन है, 'ऐच्छिक' नहीं।

सरकार में निर्णय प्रक्रिया सदैव अत्यधिक जटिल होती है। सामाजिक व राजनीतिक समूहों की अपनी-अपनी मांगें होती हैं। इन मांगों में से कई परस्पर विरोधी होती हैं, इसके बावजूद उनमें सामंजस्य का होना जरूरी होता है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार की बाध्यताएं भी होती हैं, जैसे संसाधनों की कमी। एक राजनीतिक व्यवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार के दबावो व विवशताओं के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निर्णय ले लिए जाते हैं जो व्यवहार्य ही न हों अथवा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो उपयुक्त न हो। राजनीतिक प्रक्रिया की समझ सरकार की प्रक्रिया को समझने में सहायक होती है। इससे राजनीतिक व्यवस्था को भी संतुलित ढंग से समझा जा सकता है।

राजनीति विज्ञान हमे सरकार की संस्थाओं व प्रक्रियाओं की जानकारी भी देता है। यह संविधान तथा सरकार की विभिन्न इकाइयो की शक्तियों और कार्यो के अध्ययन से संबद्ध है। इसमें उनकी भूमिका, महत्त्व तथा कार्यप्रणाली की विवेचना की जाती है। यह विधि और विधि निर्माण के संबंध में हमें जानकारी देता है। सरकार और नागरिकों के अधिकार और दायित्व इस विवेचना के महत्त्वपूर्ण विषय होते है। इन पहलुओं की समझ के फलस्वरूप राज्य के मामलो में नागरिको की प्रभावी सहभागिता होती है। सरकार के वास्तविक कार्यसचालन तथा इसके कार्यसंचालन को प्रभावित करने वाले समूहों एवं उनके अधिकारो और विशेषाधिकारों के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर नागरिक अपनी सहभागिता को अधिक प्रभावी बना सकते हैं।

राजनीति विज्ञान सामाजिक विज्ञान का एक मान्यता-प्राप्त घटक है। यह शास्त्र बौद्धिक इतिहास के जाने-माने विशेषज्ञो एवं दार्शनिकों से जुडा हुआ है, जैसे प्लेटो, अरस्तू, सुकरात, कौटिल्य, मैक्यावेलि, रूसो, मार्क्स और महात्मा गांधी। शताब्दियों में इसके विकास के दौरान नई-नई अवधारणाएं, सिद्धांत तथा पद्धतियां उभरी हैं जो निश्चय ही इसे समृद्धि प्रदान करती हैं। राजनीति विज्ञान विद्यार्थियों को अपनी विशिष्ट वैषयिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा प्रदान करता है।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति

राजनीति विज्ञान मानव समुदायो की 'राजनीति' के क्रमबद्ध अध्ययन से संबंधित है। 'राजनीति' की प्रकृति और उससे संबंधित विषय सामग्री के क्षेत्र विस्तार को समझने के लिए इसकी मानव समाजों से जुड़ी कड़ियों का अध्ययन करना लाभप्रद होगा। मानव का समूह में रहना कोई असाधारण बात

नही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानव समाज श्रेष्ठतर जीवन के लिए सतत प्रगतिशील रहना चाहते हैं और जन-संस्कृति से प्रभावित रहते हैं।

मानव मात्र जीवित रहने के साधनों से कभी संतुष्ट नहीं रहता। वह सदा अधिक से अधिक उत्पादन करना चाहता है और 'अतिरिक्त' उत्पादन को भविष्य के लिए बचाकर रखना चाहता है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में उसने यह अनुभव किया कि इसकी सफलता का रहस्य मानव क्रियाकलापों के सहकारिता पूर्ण संगठन में निहित है। शिकार युग से लेकर पशुपालन तथा कृषियुग के समाज तक सदैव सहकारी समूहों की उपयोगिता को स्वीकारा गया है। ज़ब कई शताब्दियों में यह व्यवस्था विकसित होते-होते आधुनिक औद्योगिक युग तक पहुंची तो सहयोग तथा संगठन का महत्त्व अधिकाधिक सिद्ध होता गया।

लोगों के ये संगठन अधिकांशतः ऐच्छिक होते हैं। जब व्यक्तियों को महसूस होने लगता है कि आर्थिक तथा अन्य प्रकार के क्रियाकलाप अन्य व्यक्तियों या समूहों के सहयोग से अधिक सुचारु ढंग से संपन्न किए जा सकते हैं, तब वे संगठित होने लगते हैं। यह उन्हें लाभकर प्रतीत होता है, और उन्हें इसी में अपना हित दिखाई देता है।

कुछ दूसरे अवसरों पर किसी कार्य को पूरा करने के लिए अधिक संख्या में लोगों की आवश्यकता पड़ सकती है, जैसे युद्ध की स्थिति में एक बड़े सैन्य बल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, बांध निर्माण, सड़क अथवा किला बनाने के लिए अधिक लोगों की सहभागिता आवश्यक है। कतिपय मामलो में कुछ व्यक्ति अथवा अभिकरण अपना कार्य संपन्न कराने के लिए अन्य लोगो से सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हें बाध्य कर सकते हैं। कभी-कभी इसके लिए बलप्रयोग भी किया जा सकता है। किंतु केवल बलप्रयोग सामूहिक कार्य के लिए सहयोग सुनिश्चित नही कर सकता। सहयोग के आधार पर कार्य संपन्न कराने के लिए लोगों को संगठित रखने के उद्देश्य से अनेक कारक प्रभावी होते हैं। जैसे निजी हित, प्रलोभन, प्रतिबद्धता और बलप्रयोग भी। यद्यपि कभी-कभी बलप्रयोग अथवा बाध्यता आवश्यक हो सकती है, किंतु लोगों को अधिक समय तक केवल बलप्रयोग द्वारा किसी कार्य के लिए एक साथ नहीं रखा जा सकता।

समाज के संगठित हो जाने पर चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, एक अपरिहार्य प्रश्न सामने आता है कि सहकारिता के आधार पर किए उत्पादन को, चाहे वह मात्र आवश्यकता पूर्ण करने वाला हो अथवा अतिरिक्त उपज हो, उसे किस प्रकार आपस मे बांटा जाए। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छल-कपट से बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं और इस प्रकार वे उसे अपनी निजी संपत्ति बना लेते हैं। इस संदर्भ में समानता तथा न्याय के प्रश्न उठाए जाते हैं तथा अतिरिक्त शक्ति, प्रतिष्ठा एवं विशेषाधिकारों के वितरण की व्यवस्था के विषय में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। उनके हितों तथा विचारों के संघर्ष ऐसे अवसरों पर उभरकर दृष्टिगोचर होने लगते हैं और संगठन को भी प्रभावित करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में समान हित वाले लोग अपना अलग समूह बना लेते हैं।

यदि प्रश्न केवल उपज की हिस्सेदारी का ही होता तो संघर्ष अधिक सरल होता। मतभेद के कुछ अमूर्त कारण भी होते है जो सांस्कृतिक आधारों पर निर्धारित होते हैं। क्या अच्छा है? क्या बुरा है? क्या वांछनीय है? क्या अवांछनीय है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्ति सभूहों द्वारा सदा एक-जैसे नहीं दिए जाते। मानव समूहों में व्याप्त संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक जटिल होता है। अन्य अभिकरणों की भांति सहकारी अभिकरण भी, जो व्यक्तियों को परस्पर सहयोग के लिए संगठित करते हैं, अनिवार्यतः संपत्ति तथा विशेषाधिकारों के लिए वितरण मे संलग्न हो जाते है। ये उस प्रक्रिया के केंद्र बिंदु बन जाते हैं जिसे हम राजनीति कहते हैं। इस प्रकार सहयोग और संघर्ष राजनीति के दो पक्ष हैं जो मानव समाजों के लिए अपरिहार्य हैं।

मानव की संयुक्त गतिविधियों के विभिन्न प्रयोजन होते हैं। ऐसे गुटों के आकार भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ गुट आकार में बहुत छोटे होते हैं। कुछ ऐसी गतिविधियां होती हैं जो बहुत ही सीधी-सादी होती हैं। बड़े-बड़े मानव समूह भी ऐसी संयुक्त गतिविधियों में संलग्न दिखाई देते हैं जो अधिक जटिल होती हैं। ऐसे समूहों के उदाहरण विभिन्न स्तरों पर देखने को मिलते हैं, जैसे परिवार, क्लब, श्रमिक संघ, उद्योग, शैक्षिक संस्थाएं व राजनीतिक दल आदि। कुछ राजनीतिक चिंतक राज्य को भी एक ऐसा संगठन मानते हैं जो नागरिकों के प्रयास के फलस्वरूप उत्पन्न सहमति का परिणाम है। यद्यपि ये सभी कार्यकलाप परस्पर सहयोग के उदाहरण हैं, तथापि उनमे निहित द्वंद्व या संघर्ष भी स्वभावतः बने रहते हैं। ये संघर्ष व्यक्तियों, सहकारी समूहों के भीतर तथा विभिन्न समूहो के मध्य होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, लोगो का एक समूह एक राजनीतिक दल बना सकता है तथा ऐसे ही अन्य दलों से प्रतियोगिता कर सकता है। दल के भीतर भी नेतृत्व में अपना स्थान बनाने के लिए अथवा पद प्राप्त करने के लिए सदस्य एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते है। समूहों को बनाए रखने के लिए इन संघर्षो को दूर तथा विनियमित करना होता है। संघर्षो को विनियमित करने हेतु नियम व विनियम बनाए जाते हैं और तत्संबंधी कार्यप्रणाली निर्मित की जाती है।

इस तरह, मानव समूहो में सहयोग व संघर्ष दोनों ही निहित रहते हैं। जिस स्तर व पैमाने पर ये कार्य करते हैं, वे भिन्न-भिन्न समूहों मे भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ अन्य समूहों मे प्रचंड व व्यापक संघर्ष हो सकता है जो सहकारी गतिविधियों में बाधक हो सकता है। सहकारी गतिविधियों की प्रस्थापना हेतु कितना बलप्रयोग (अथवा बाध्यता) हो, यह सहयोग तथा संघर्ष की प्रकृति तथा मात्रा पर निर्भर करता है।

संघर्ष और एकीकरण : राजनीति के दो रूपः सहयोग और संघर्ष स्पष्टतया परस्पर विरोधी शक्तियां हैं जो राजनीति की प्रक्रिया का निर्माण करती हैं। वास्तव मे ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। समाज मे होने वाले संघर्षों का संबंध ऐसी शक्तियों से है जो सुविधाएं, सम्मान, प्रतिष्ठा, लाभ और आनंद प्रदान करती है। इस दृष्टि से शक्ति दूसरों

के व्यवहार को नियंत्रित करने से संबद्ध है। शक्ति के वितरण के संबंध में शाश्वत सत्य यह है कि शक्ति का वितरण सदैव असमान होता है। कुछ लोगों के पास अधिक शक्ति होती है, तो दूसरों के पास कम। इस तथ्य की व्याख्या विभिन्न तरीकों से की गई है जो संघर्षों के विभिन्न कारणों व प्रकारों को स्पष्ट करते हैं। इनमें आर्थिक, सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक कारण महत्त्वपूर्ण है।

कुछ संघर्ष सामाजिक-आर्थिक कारकों से संबंधित होते है। सभी समाजों में विशेषकर मानव समाजो में, सभी प्रकार के संसाधनों का चिरकालिक अभाव होता है। प्रतियोगिता तथा संघर्षो का उद्देश्य दुर्लभ संसाधनों को प्राप्त करना है।

दुर्लभ संसाधनो की प्राप्ति हेतु प्रतियोगिता के अतिरिक्त संघर्ष के और कारण भी हैं जो सांस्कृतिक होते हैं और जिनका संबंध प्राथमिकताओं और 'अच्छा' तथा 'बुरा' की विभिन्न अवधारणाओं से होता है। मानव समूहों की आस्थाएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं। स्वयं व दूसरों के विषय में उनकी निजी धारणाएं होती हैं। उनकी आदतें, मान्यताएं, अनुभूतियां व व्यवहार क्रियाएं ऐसे ही व्यक्तिनिष्ठ कारणों से प्रभावित होती है।

कुछ विचारक संघर्ष के मौलिक मनोवैज्ञानिक कारणों का उल्लेख करते हैं। 'प्रभुत्व स्थापित' करने की इच्छा को व्यक्ति की आधारभूत विशेषता माना गया है। सिगमंड फ्रॉइड जैसे विचारकों द्वारा उनके स्रोतों एवं प्रकारों का विश्लेषण किया गया है। कुछ विचारकों ने व्यक्तियों का वर्गीकरण, उनकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर किया है। यद्यपि संघर्ष का बोध व्यक्ति के मस्तिष्क व मानव मनोविज्ञान से परिलक्षित होता है तथापि सामूहिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे भी वह उभर कर आता है।

संघर्ष यद्यपि अवश्यंभावी हैं तथापि वे मानव समाज के लिए वांछनीय नहीं माने जाते। संघर्ष के प्रत्येक विश्लेषण की परिणति यानी समाप्ति इस के समाधान के रूप में होती है। संघर्षरत व्यक्ति व समूह अपने संकल्प के महत्त्व व आवश्यकता को महसूस करते हैं। सहमति के क्षेत्रों को सुस्पष्ट करने की दिशा में प्रयास किए जाते हैं। उसके साथ ही, समूहों में संबद्धता व एकात्मकता की भावना को बढ़ाने के लिए सकारात्मक कदम उठाए जाते हैं। कई गतिविधियो का उद्देश्य इस एकीकरण की स्थापना है। राजनीतिक प्रक्रिया मोल-तोल यानी सौदेबाजी व बातचीत का अवसर प्रदान करती है तथा कई विवादों को सुलझा भी देती हैं। विरोधी शक्तियों व कारकों का संयोग, संघर्ष से सहयोग व एकीकरण की ओर ले जाने में सहायता प्रदान करता है। कुछ संघर्षो में कमी आ जाती है, कुछ सुलझ जाते हैं। कुछ बने तो रहते हैं, किंतु नियंत्रित हो जाते हैं और परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर कुछ नए संघर्ष खड़े हो जाते हैं। यद्यपि विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाएं एक सद्भावपूर्ण समाज निर्मित करने के उद्देश्य में सहायक होती हैं तथापि इस दिशा में राज्य व सरकार की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है।

समाज की विभिन्न संस्थाओं में से राज्य को सत्ता अनेक मामलों में अंतिम यानी सर्वोपरि प्राधिकार प्राप्त होता है। यह समाज में सामूहिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। एकीकरण की प्रक्रिया को

प्रोत्साहित करने की दिशा मे राज्य कई कदम उठाता है। विधियों, नियमों व प्रक्रियाओं के निर्माण के द्वारा वह विविध प्रकार की विभिन्नताओं व विरोधों को विनियमित करता है। इन विनियमों को राज्य का अनुमोदन प्राप्त होता है, जिसके कारण उनका पालन होता है। राज्य कुछ ऐसे कार्यो का भी दायित्व लेता है जिनका लाभ समाज के कुछ विशिष्ट लोगो या वर्गो तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि समाज के अंगभूत सभी व्यक्तियों को प्राप्त होता है। रेलवे, परिवहन तथा डाक व तार कुछ ऐसे सेवा-संगठन हैं जो पूरे समाज के लिए लाभदायक हैं।

एकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाचार पत्र, रेडियो व दूरदर्शन जैसे जनसंचार संगठन भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करते हैं। एकीकरण के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अंतिम, लेकिन अत्यधिक आवश्यक माध्यम है राज्य-शक्ति का प्रयोग। यह ऐसे लोगों के विरुद्ध प्रयोग की जाती है जो सामूहिक प्रक्रिया और लक्ष्य की प्राप्ति से अपने को अलग रखते हैं। सभी समाजों में कुछ ऐसे लोग पाए जाते हैं जो सामाजिक हित के विषय मे नही सोचते। चोरी और डकैती जैसे पथभ्रष्ट आचरण शक्ति प्रयोग द्वारा ही नियंत्रित किए जा सकते हैं। अतः पुलिस यही कार्य करती है। सेना देश की सीमाओं की रक्षा करती है। जो दोषी पाए जाते है और जिन्हे सज़ा देनी होती है उनके लिए कारागार होते हैं। चरम परिस्थितियों में गंभीर अपराधों के लिए फांसी की सजा तक दी जाती है। अतः पुलिस, सेना, कारागार तथा दंड देने की वैध व्यवस्था कुछ ऐसे अभिकरण हैं जिनका प्रयोग राज्य कभी भी कर सकता है। राज्य के पास बल-प्रयोग करने के यत्र भी होते हैं परंतु उनका प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप मे ही होना चाहिए। बल या जोर-जबरदस्ती का निरंतर प्रयोग महंगा साबित हो सकता है, जिसके फलस्वरूप राज्य को सदा चुनौती का सामना करने का भय बना रहता है। अत्यधिक लोगों के विरुद्ध बलप्रयोग करने वाला राज्य एक स्वस्थ राज्य नहीं कहा जा सकता।

बिना अधिक बलप्रयोग किए, लोगों द्वारा आज्ञापालन प्राप्त कर लेने वाला राज्य ही एक स्वस्थ राज्य कहा जा सकता है। वास्तविक बलप्रयोग के स्थान पर धमकी ही पर्याप्त होनी चाहिए। किंतु यदि कोई राज्य आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध साधनों द्वारा बलप्रयोग नहीं करता है तो उस राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

राज्य को बलप्रयोग करने में सावधानी बरतनी चाहिए। अंततः प्रत्येक राज्य का उद्देश्य जनकल्याण होता है और ऐसा सदैव होना भी चाहिए। राज्य को जोर-जबरदस्ती या बलप्रयोग केवल उन परिस्थितियों में करना चाहिए जहां सामाजिक सौहार्द के बने रहने में विघ्न उत्पन्न होने की आशंका हो। यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग का उद्देश्य अंततः समाज कल्याण ही है और इसी निमित्त उसका प्रयोग होना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा प्रदत्त सुविधाओं की साझेदारी से परस्पर मेल-मिलाप की भावना को बल मिलता है। मानव जीवन को प्रभावित करने वाली संस्थाओं की संख्या

मे अपार वृद्धि हुई है। क्योंकि इन विशाल संगठनों द्वारा प्रदत्त सुविधाओ पर समाज की निर्भरता बढती जा रही है, अतः समाज में परस्पर निर्भरता का महत्त्व भी बढ गया है। लेकिन यह एक मिश्रित वरदान है। इनसे नई सुविधाओं तथा उनसे मिलने वाले लाभों के बढ़ने के साथ-साथ समाज मे प्रतियोगिता का तत्त्व भी प्रवेश कर गया है। इन सुविधाओं के प्रबंध हेतु वैज्ञानिकों, प्रोद्योगिकी-विदों एवं प्रशासकों का एक नया समूह भी, नए सत्ताधारी समूह के रूप में उभर आया है। इस समूह की अन्य शक्तिशाली समूहों से प्रतियोगिता होने लगी है। इस तरह समाज में नए संघर्षो का जन्म होता है जिनसे नई समस्याओं व संघर्षो की नई परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं, किंतु यह भी सत्य है कि जो संगठन आधुनिक सुविधाएं प्रदान करते हैं वे उन समस्याओं का सामना करने के लिए समाज और राज्य की क्षमता में भी अभिवृद्धि करते है।

राजनीति व राजनीति विज्ञान: 'राजनीति' व 'राजनीति विज्ञान' का प्रयोग प्रायः पर्यायवाची शब्दों के रूप मे किया जाता है। लेकिन इनके अर्थ, विषय क्षेत्र व महत्त्व दोनो ही दृष्टियों से, अलग-अलग हैं। राजनीति का संबंध सहयोग, संघर्ष व प्रतियोगिता की प्रक्रियाओं से है। राजनीति विज्ञान राजनीति की प्रक्रियाओं के क्रमबद्ध अध्ययन से संबद्ध है। ये दोनों ही भिन्न-भिन्न पहलुओं को इंगित करते हैं। जहां 'राजनीति' में विषय क्षेत्र अथवा उसका अध्ययन सन्निहित है, वहा 'विज्ञान' उसके क्रमबद्ध अध्ययन की ओर इशारा करता है। पहला जहां इस प्रश्न का उत्तर है कि "किसका अध्ययन होता है", वहा दूसरा इस प्रश्न का जवाब देता है कि "इसका अध्ययन कैसे होता है"। पहला ऐसे अध्ययन के विषय क्षेत्र को इंगित करता है तो दूसरा उसकी अध्ययन पद्धति से सबंधित है। इन दोनों पहलुओ यानी विषय क्षेत्र व पद्धति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

राजनीति की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए राजनीति विज्ञान उन कारकों की पहचान भी करता है जो व्यक्तियो और समूहों के मध्य सहयोग और संघर्ष को उत्पन्न करते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और समूहों मे इन संघर्षों के स्वरूप भी भिन्न होते हैं। राजनीतिक वैज्ञानिक इन विभिन्नताओ का अध्ययन तथा इनके कारणों का विश्लेषण करते हैं। भिन्न -भिन्न परिस्थितियों व समयो में 'राजनीति' में पाई जाने वाली ये विभिन्नताएं राजनीति विज्ञान के विभिन्न सिद्धांतों की आधारशिलाएं हैं। 'राजनीति' की प्रक्रिया से संबंधित अवधारणाओं एवं सिद्धांतों के अध्ययन का संगठित ज्ञान ही' राजनीति विज्ञान है।

राजनीति विज्ञान का अर्थ और विषय क्षेत्र

राजनीति विज्ञान जैसे विषय का बोध कभी भी राज्य के समकालीन स्वरूप के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। विभिन्न कालों में राज्य और शासन के विषय क्षेत्र व उनकी समस्याएं अलग-अलग रही हैं। समकालीन राज्य के स्वरूपों व उनकी समस्याओं के प्रति संवेदनशील रहते हुए राजनीतिक दर्शनशास्त्री यह निर्देशित करते रहे हैं कि राज्य को किस प्रकार प्रगति करनी चाहिए तथा शासन का गठन किस तरह किया जाना चाहिए।

यूनान के नगर-राज्यों (the polis) में समाज के लगभग सभी व्यक्तियों के समस्त कार्यकलापों का समावेश रहता था। उनके अनुभवों के आधार पर राजनीति की एक व्यापक संकल्पना की गई थी और उसे अरस्तू के शब्दों में एक 'उत्कृष्ट विज्ञान' माना गया। प्लेटो और अरस्तू की परिभाषा के अनुसार राज्यतंत्र में राजनीतिक व सामाजिक संस्थाएं दोनों ही सम्मिलित रहती हैं। उन्होंने राजनीति व समाज में कोई भेद नहीं किया। विभिन्न चरणों में उत्पादन प्रणालियों में विकास के साथ सामाजिक व आर्थिक संस्थाएं महत्त्वपूर्ण होती गई। आर्थिक उत्पादन व्यवस्था जैसे-जैसे विभिन्न अवस्थाओं से गुजरी (जैसे शिकार व भोजन बटोरने से कृषि और फिर उद्योग की अवस्थाएं), वे अधिकाधिक जटिल और संगठित भी होती गई।

कृषि व उद्योग, दोनों को अधिकाधिक व्यक्तियो के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। अपने कार्यो को संपन्न करने हेतु उनके संगठन होते हैं। ऐसे संगठन बहुधा कृषि व उद्योग के हितों के संरक्षण में सक्षम होते हैं। बाद के चरणों में आर्थिक अधिशेष (सरप्लस) की मात्रा में भी वृद्धि होती गई। संगठन ओर अधिशेष के कारण आर्थिक संस्थाएं और अधिक सशक्त हो गई।

इसके साथ ही, सामाजिक परिवर्तनों ने सामाजिक संस्थाओं को अधिक संगठित एवं शक्तिशाली बना दिया। इस प्रक्रिया में संस्थाएं अधिक स्वायत्त हो गई। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में जाति एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में उभर कर आई। अतः रक्तसंबंध महत्त्वपूर्ण हो गया। राज्य अपने कार्यो का विस्तार कुछ विशिष्ट क्षेत्रों तक न कर सका जो सामाजिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण हो गए थे। उद्योग, कृषि, जाति व रक्तसंबंध ऐसे ही विशिष्ट क्षेत्रों की गतिविधियों के परिणाम हैं। इसके फलस्वरूप 'राजनीतिक', 'सामाजिक' और 'आर्थिक गतिविधियों' के बीच भेद करने की आवश्यकता पड़ी।

राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए इसे 'राज्य का विज्ञान' कहा गया जिसमें राज्य के कार्यो को संपन्न करने की संस्थाओं के प्रबंध पर अधिक बल दिया गया था। इस कार्य को समाज में शांति और व्यवस्था को कायम रखने तथा बाहरी आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने तक ही सीमित माना गया था। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो मे आए इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्य के कार्यो के निर्धारण से राजनीति विज्ञान की परिभाषा में भी परिवर्तन करना पड़ा।

आर.जी. गेटल के अनुसार राजनीति विज्ञान के विषय क्षेत्र को 'राज्य के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया गया। राज्य के विकास की विभिन्न अवस्थाएं, उसके क्या कार्य हों, कौन-से मापदंड अपनाए जाएं, आदि विषयों का राज्य विज्ञान में समावेश किया गया। क्योंकि राज्य के कार्य सरकार द्वारा संपन्न किए जाते हैं, इसलिए स्टीफन लीकॉक के शब्दों में "राजनीति विज्ञान का संबंध शासन से है"। सरकार के विभिन्न रूप क्या हैं? समाज की भलाई की दृष्टि से शासन का गठन कैसे होता है? ये ऐसे प्रश्न थे जिनके संबंध में राजनीति विज्ञान में विचार-विमर्श हुआ। 'राज्य और सरकार' राजनीति विज्ञान के अध्ययन की विषय-वस्तु है। संस्थाओं,

उनकी शक्तियों तथा कार्यो पर अधिक बल दिया जाता है।

राजनीति विज्ञान के परिप्रेक्ष्य के संबध में एक बार पुनः परिवर्तन आया जब विद्वानो ने यह प्रश्न उठाना शुरू कर दिया कि राजनीतिक संस्थाओं का केवल औपचारिक संरचना के रूप में अध्ययन करना क्या युक्तिसंगत है? क्या राजनीतिक संस्थाओं की औपचारिक शक्तियों और कार्यों का विश्लेषण ही पर्याप्त था? कुछ भी हो, शक्ति का प्रयोग करना ही होता है और जो सत्ता में होते हैं, उन्हें कार्य संपादित करना ही है। शक्ति का प्रयोग और कार्य का संपादन भिन्न-भिन्न कारको पर निर्भर रहता है। इसलिए संस्थाएं भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। भिन्न-भिन्न संदर्भो में राजनीतिक संस्थाएं भिन्न-भिन्न रूपो में कार्य करती हैं। राजनीति विज्ञान की वह परिभाषा जो अपने को 'संस्थाओं' और 'संरचनाओं' के विश्लेषण तक सीमित रखती है, हमें पूरी स्थिति से परिचित नहीं कराती। संस्थाओं के वास्तविक क्रियाकलापों का विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण है।

विश्लेषण का उचित केद्र बिदु संस्थाओं की कार्य पद्धति में निहित 'प्रक्रिया' होना चाहिए न कि उनकी ढांचा 'संरचना'। संरचना के स्थान पर प्रक्रिया पर बल दिए जाने की शुरूआत राजनीति विज्ञान मे व्यवहारवादी क्रांति के आगमन के साथ हुई। इस विचारधारा के समर्थक विद्वान केवल सरकार की औपचारिक संरचनाओ, उनकी वैधानिक शक्तियों व कार्यों के अध्ययन से ही संतुष्ट नहीं थे बल्कि उनका बल इन संस्थाओं की कार्यप्रणाली पर अधिक था। उन्होंने 'राजनीति' को एक प्रक्रिया के रूप में माना।

आइए, एक उदाहरण लें। भारत में लोक सभा के सदस्य पूरे देश मे फैले निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्षतः निर्वाचित होकर आते हैं। सदस्य लोक सभा के अध्यक्ष का चुनाव करते हैं जो लोक सभा की बैठकों का सचालन व उसकी अध्यक्षता करता है। लोक सभा, उसके अध्यक्ष तथा उसके सदस्यों की शक्तियो का प्रावधान संविधान के अनुच्छेदो तथा अन्य नियमों व विनियमों में किया गया है। लोक सभा के ये पहलू उसकी संरचना की ओर इगित करते हैं अर्थात् वह कैसे संगठित की जाती है।

लोक सभा की कार्यप्रणाली का दूसरा पहलू यह है उसके सदस्य विभिन्न राजनीतिक दलों से संबद्ध होते हैं और उनकी संबद्धता इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वे विभिन्न मुद्दों पर क्या दृष्टिकोण अपनाते हैं और उनका व्यवहार किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। सदस्यों की पृष्ठभूमि भी अलग-अलग होती है। कई मामलो वे में एक दिशा-विशेष में अभिमुख होते हैं। उनके व्यवहार पर इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। किसी मुद्दे पर लोक सभा में विचार होते समय सदस्यों पर इन कारणों का प्रभाव स्वतः देखने को मिल जाता है। विधेयक पारित होने में इन सभी घटको का योगदान होता है। लोक सभा का यह पहलू उसकी कार्यव्यवस्था को इंगित करता है। व्यवहारवादियों का मानना है कि राजनीति का सही रूप, उदाहरण के दूसरे पहलू में देखने को मिलता है। उनके अनुसार 'संरचना' की कोई भी व्याख्या, उसकी 'प्रक्रिया' के अध्ययन के अभाव में अधूरी रहेगी। जहां तक संस्थाओं की कार्यव्यवस्था का सवाल है 'प्रक्रिया' पर बल दिया जाना निश्चय

ही महत्त्वपूर्ण है। 'संस्थाओं' तथा 'प्रक्रियाओं' का संयोजन विश्लेषण को यथार्थ तथा शिक्षाप्रद बनाता है।

इस व्यवहारवादी उपागम यानी दष्टिकोण का दूसरा पहलू इस धारणा से संबंधित है, कि 'राजनीति' सर्वव्यापक है तथा समस्त मानव गतिविधियों का एक ही पक्ष होता है जिसे हम 'राजनीति' कहते हैं। इसी संदर्भ में 'खेल-कूद', 'मनोरंजन क्लबों', 'शैक्षिक संस्थाओं' आदि की 'राजनीति' की बात की जाती है। लेकिन ये संस्थाएं उन अर्थों में राजनीतिक नहीं हैं जिस अर्थ में सरकार या राजनीतिक दल समझे जाते हैं। पुनः यह प्रश्न उठता है कि 'राजनीति क्या है?' सस्थाओं की अपेक्षा गतिविधियों के संदर्भ में 'राजनीति' को विशेष रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता पड़ी। इस उपागम के अनुसार राजनीति की बुनियादी प्रक्रिया का संबंध समाज में मतभेद, संघर्ष एवं प्रतियोगिता से होता है तथा सहयोग, एकीकरण एवं समझौते होना भी 'राजनीति के खेल' की मुख्य प्रक्रियाएं है।

यह बताया गया कि 'शक्ति' राजनीतिक प्रक्रियाओ के सार-तत्वों का प्रतिनिधित्व करती है। कुछ ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समूह हैं जो आदेश देते हैं और दूसरे उन आदेशों का पालन करते हैं। आदेश देने वालों की क्षमता, जिसके बल पर दूसरे उनके आदेशों का पालन करते हैं, अथवा उनके आदेशों को मानते हैं, को शक्ति कहते हैं। कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह कैसे और क्यों अधिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं? इसका कारण क्या है? समाज के वे कौन-से कारक व शक्तियां हैं जो कुछ को अधिक शक्ति प्रदान करने में सहायता करती हैं? शक्ति के आधार क्या हैं? शक्ति की प्रकृति क्या है? कुछ दूसरे प्रकार के भी प्रश्न हैं जो शक्ति प्रयोग की ओर इंगित करते हैं। शक्ति का वास्तव में प्रयोग कैसे होता है? कौन-से तंत्र व संस्थाएं हैं जिनके माध्यम से शक्ति काम में लाई जाती है? शक्तिशाली के आदेशों का पालन लोग क्यों करते हैं? राजनीति विज्ञान ऐसे ही प्रश्नों के उत्तरों से संबंधित है। इस तरह राजनीति उस प्रक्रिया से संबंधित है जिसके द्वारा कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह शक्ति प्राप्त करते हैं तथा दूसरों पर उसका प्रयोग करते हैं।

परिभाषा और विश्लेषण की इस लंबी यात्रा में 'राजनीति' व 'राजनीति विज्ञान' के एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष पर बल दिया गया है, वह है लोकहित के लक्ष्य की प्राप्ति, समाज मे शांति व्यवस्था की स्थापना तथा न्याय को सुनिश्चित करना। न्याय, समानता और स्वतंत्रता की अवधारणा राजनीति विज्ञान में विवादों के विषय रहे हैं। विद्वानों ने ऐसी परिभाषाएं तथा सुझाव प्रस्तुत किए हैं जिनके द्वारा इन लक्ष्यो की प्राप्ति की जा सकती है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि ये ऐसे उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें प्राप्त करना मानव समाज के लिए अभीष्ट है और ऐसा होना भी चाहिए।

राजनीति विज्ञान का संबंध शासन और राज्य की सामान्य समस्याओं से है (आर.एन. गिलक्राइस्ट), यह राजनीति विज्ञान की सर्वमान्य व सुस्पष्ट परिभाषा है। सरकार के अंग अधिक स्पष्ट तथा मूर्त होते हैं। राज्य व सरकार को बहुधा

एक ही समझ लिया जाता है जबकि विद्वानों ने उनमें स्पष्ट भेद किया है।

सरकार के प्रकार तथा उसकी संस्थाएं राजनीति वैज्ञानिकों के लिए मुख्य विचारणीय विषय रहे हैं। शासन प्रबंध में नियमों, विनियमों तथा विधियो का निर्माण तथा समाज में उनका अनुपालन सम्मिलित होता है। इनमें से कोई भी गतिविधि पूर्णतः ऐच्छिक नहीं होती। अतः सरकार के पास उन्हें लागू करने की शक्तियां होती हैं। कौन-सी संस्था कैसी होती है तथा उसके पास कितनी शक्ति होती है, ये प्रश्न सांविधानिक विशेषज्ञों के लिए वाद-विवाद के विषय हैं। शासन के तीन सुपरिचित अंगों अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका पर भिन्न-भिन्न कार्यों का दायित्व होता है जिनके कार्यान्वयन के लिए उनके पास आवश्यक शक्तियां होती हैं। लेकिन केवल ये शासकीय संस्थाएं ही उन नियमों व विनियमों का निर्माण नहीं करतीं जिनका पालन लोग करते हैं। रीति-रिवाज व परंपराएं भी विधिनिर्माण के सुपरिचित स्रोत हैं। स्वैच्छिक समूह जैसे क्लब आदि भी अपने नियमों व विनियमों का निर्माण करते हैं, यद्यपि इनके नियम व विनियिम उस तरह बाध्यकारी नहीं होते जिस तरह शासन के नियम व विनियम होते हैं। शासन के नियम-विनियम वैध होते हैं तथा उन्हें लागू करने के पीछे शासन की सत्ता होती है।

यद्यपि राज्य की शक्ति का विश्लेषण संस्थागत बनावट व उसके प्रयोग की वास्तविक प्रक्रिया के संदर्भ में किया गया है तथापि अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसके प्रयोग को निरूपित करने का प्रश्न भी राजनीति विज्ञान में विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण है। किस साध्य की प्राप्ति के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग होता है? अंतिम विश्लेषण में, जनकल्याण व सार्वजनिक भलाई को राज्य द्वारा उपेक्षित नहीं किया जा सकता। राज्य के इस पक्ष का अध्ययन हम बाद मे करेंगे।

निस्संदेह राज्य, राजनीति विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है लेकिन समाज में सत्ता के केंद्र बिंदु होने की राज्य की अवधारणा से आज के कुछ विद्वान संतुष्ट नहीं हैं। इसमे कई कठिनाइयां हैं। कुछ ऐसे समाजो के विषय में क्या कहा जाए जिनमें राज्य के लक्षण तो विद्यमान हैं और उनके कार्य भी निर्धारित हैं (जैसे भू-भाग, सामाजिक व्यवस्था, प्राधिकार और बलप्रयोग) लेकिन वे उस अर्थ में संगठित राज्य नहीं कहे जा सकते जिस अर्थ में हमने ऊपर उसकी विवेचना की है। ई. ई. इवान्सप्रिचार्ड और मायरफोर्टेस जैसे सामाजिक मानव वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे जनजातीय समाजों का अध्ययन किया है जिन्हें उन्होंने राज्यविहीन समाज की संज्ञा प्रदान की है। ऐसे समाजों में शक्तिशाली व्यक्ति और समूह तो होते हैं, लेकिन संगठित राज्य नहीं होते। राज्य के अतिरिक्त कुछ ऐसी संस्थाएं हैं जिनके लक्षण राज्य से मिलते-जुलते हैं। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि शैक्षिक संस्थाओं, व्यापारिक व धार्मिक संगठनों के पास भी कुछ मात्रा में बाध्यकारी शक्ति अवश्य होती है। संप्रभुता राज्य का सर्वाधिक विशिष्ट तत्त्व है और इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया के विश्लेषण मे इस तत्त्व को मुख्य केंद्र बिंदु माना जाना अधिकांशतः सही होगा।

प्रभावशाली विद्वानों का एक ऐसा समूह है जो शक्ति को राजनीति विज्ञान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवधारणा मानता है। जहां कही भी शक्ति के संबंधों और संघर्ष की स्थितिया मौजूद हैं, वहां राजनीति पाई जाती है। यहां पुनः संस्था की अपेक्षा गतिविधि के प्रकार और व्यवहार पर अधिक बल है। हैरोल्ड डी. लैसवेल की राजनीति की परिभाषा "कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है", इस उपागम का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। शक्ति को दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जाता है, चाहे वह बलप्रयोग अथवा उसकी धमकी मात्र से ही हो जाए। लेकिन राजनीतिक व्यवस्था मात्र बलप्रयोग अथवा उसके भय दिखाने पर नहीं टिक सकती। टी.एच.ग्रीन के अनुसार "राज्य का आधार बलप्रयोग नहीं, अपितु इच्छा है"। इन विद्वानों ने एक नए शब्द को प्रस्तुत किया है और वह है 'वैधता', जिसका तात्पर्य है स्वेच्छा से आज्ञापालन।

***वैधता*:** राज्यों के पास बल होता है, अथवा बाध्यकारी शक्ति होती है जिसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि लोग राज्य की आज्ञा का पालन करें। भले ही बाध्यकारी बल का व्यावहारिक प्रयोग न हो रहा हो, उसके प्रयोग का भय बना रहता है। लेकिन अधिक संख्या में लोगों के व्यवहारों को बार-बार नियंत्रित करने के लिए बल का बार-बार प्रयोग किया जाना राज्य को महंगा पड़ता है। यदि राज्य की अवहेलना करने वालों की संख्या अधिक है तो उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए एक बड़े पुलिस बल की आवश्यकता होगी। पुलिस बल का रखरखाव अथवा अन्य तंत्र बाध्यकारी के लिए संसाधनों की आवश्यकता पड़ेगी। बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग का निरंतर भय दिखाने से संघर्ष की स्थिति निरंतर बनी रहेगी। राज्य फिर इसी काम में लगा रहेगा कि उसकी शक्ति कैसे बनी रहे।

केवल बल के द्वारा नागरिकों को नियंत्रित करने की बात न तो संभव है और न ही उपयुक्त। इसलिए, राज्य बल को ऐसे यंत्र के रूप में मानता है जिसका प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में उन लोगों के विरुद्ध होता है जो विधिसम्मत कार्य करने को तत्पर नहीं होते। राज्य लोगों से आज्ञापालन की अपेक्षा, इस विश्वास के आधार पर करता है कि उसका शासन 'अच्छा' है और वह लोगो के लिए लाभकर है, जो सरकार कानून द्वारा प्रस्थापित प्रक्रिया के अंतर्गत, सत्ता में आती है, वह सामान्यतः स्वीकार्य होती है। उदाहरण के लिए, संसदीय शासन व्यवस्था में, जैसा कि भारत मे है, जिस राजनीतिक दल अथवा समूह को, संसद में बहुमत प्राप्त होता है उसी की सरकार बनती है। ऐसी भी स्थिति हो सकती है जब किसी भी दल अथवा समूह को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। ऐसी स्थिति में जिस दल अथवा दलों के समूह को संसद में सर्वाधिक स्थान (सीटें) प्राप्त होते हैं और वह सरकार बनाने का इच्छुक भी होता है, वास्तव में उसी की सरकार बनती है। संसद में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से ऐसी सरकारें 'अल्पसंख्यक सरकारें' मानी जाती है। ये सरकारें वैध मान ली जाती हैं क्योंकि इनके गठन में सुनिश्चित सिद्धांतों और प्रक्रियाओं का पालन हुआ होता है। दूसरे शब्दो में, राज्य व सरकार का गठन युक्तिसंगत ढंग से हुआ है जिनमें नियमों और प्रक्रिया का अनुपालन किया गया है, इसलिए लोगों को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। यही लोकप्रिय विश्वास है

जो राज्य को वैधता प्रदान करता है। मैक्सवेबर ने सर्वप्रथम प्रक्रियाओं के संबंध मे क्रमबद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसके द्वारा राज्य को वैधता की प्राप्ति होती है।

अतः राजनीति विज्ञान का अर्थ तथा उसका विषय क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक होता गया है। 'राजनीति' के बुनियादी तत्वों को भली-भांति समझने के प्रयास में उनके अध्ययन के लिए लाभप्रद अवधारणाएं व उपागम प्रस्तुत किए गए हैं। इन विभिन्न उपागमों को इस रूप में नहीं लिया जाना चाहिए कि या तो यह सही है अथवा वह। जटिल प्रक्रिया को समझने की दिशा में प्रत्येक उपागम की अपनी भूमिका है, जिसके विश्लेषण का प्रयास राजनीति विज्ञान करता है। ये उपागम विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं तथा उन्हें समझने के लिए विभिन्न तरीकों का उपयोग करते हैं जिनका परीक्षण होना जरूरी है। अंततः यह कहना गलत न होगा कि विभिन्न उपागमों ने राजनीति विज्ञान के अनुशासन को समृद्ध किया है।

'सर्वोत्तम राज्य' की संकल्पना राज्य तथा सरकार दोनों के संबंध में प्रमुख विषय है। इस संकल्पना को दृष्टि मे रखते हुए राजनीतिक वैज्ञानिकों ने इस विषय को समझने व परिभाषित करने का प्रयास किया है। 'राम राज्य', प्लेटो के 'आदर्श राज्य' और अरस्तू के 'मिश्रित संविधान' से आरंभ होकर रूसो, मार्क्स और महात्मा गांधी जैसे सुविख्यात राजनीतिक दार्शनिक एक 'अच्छा' और 'इच्छित' मानव जीवन के विषय में चिंतन करते रहे हैं। राज्य व सरकार इस उद्देश्य को कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं, यह भी उनके चिंतन का विषय रहा है। यह राजनीति विज्ञान का एक मुख्य पहलू बना रहा है।

राजनीति विज्ञान तथा समाज विज्ञानों से उसका संबंध

राजनीति विज्ञान, राज्य और सरकार जैसी संस्थाओं व शासन की प्रक्रियाओं का अध्ययन है। यह संघर्ष, सहयोग, एकीकरण तथा समाज के व्यापक सत्ता संबंधों के पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन भी है। राजनीति विज्ञान का दूसरा पक्ष व्यापक परिभाषा का हामी है। विषय की व्यापक समझ राजनीति को कुछ निश्चित सस्थाओं तक सीमित नहीं मानती। वास्तव में समस्त सामाजिक गतिविधियां सत्ता के लिए संघर्ष और द्वंद्व से ओत-प्रोत होती हैं। 'धर्म की राजनीति', 'क्लबों की राजनीति', 'खेल-कूद में राजनीति', 'परिवारों की राजनीति' जैसे शब्दों के संबंध में हम बराबर सुनते हैं। जब अरस्तू ने राजनीति को 'सर्वश्रेष्ठ विज्ञान' कहा तो उसके इस कथन में केवल राजनीतिक शासन की व्यापकता ही नहीं, अपितु इसके सर्वव्यापी होने की अवधारणा भी निहित थी। समाज के चाहे जिस पक्ष का अध्ययन हो, उसका एक अनिवार्य पहलू यह भी है कि उसके राजनीति पक्ष का भी अध्ययन हो। विभिन्न समाजिक विज्ञानों की व्यापक जानकारी से राजनीति विज्ञान लाभान्वित होता है। इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का अध्ययन राजनीति विज्ञान से गहरे रूप से संबद्ध है।

इतिहास से संबंध : इतिहास का क्षेत्र राजनीति विज्ञान के क्षेत्र से विस्तृत होता है क्योंकि उसका संबंध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक

और राजनीतिक घटनाओं से भी है। मुख्यतया, इतिहास अतीत के अध्ययन से संबंधित है। समाज की समकालीन समस्याओं का अध्ययन भी इतिहासकार करते हैं लेकिन उनकी व्याख्या का आधार अतीत की घटनाओं के संदर्भ में ही होता है। इतिहास विशेष प्रकार के स्रोत पर आश्रित होता है जैसे प्राचीन आंकड़े, अभिलेखीय व पुरातत्त्वीय स्रोत आदि। स्वभावतः स्रोतों के संग्रहण व विश्लेषण की पद्धति विशेष प्रकार के स्रोतों के अनुरूप होगी। स्रोतों के प्रकार तथा संग्रहण पद्धति दोनों के संबध में इतिहास की अपनी विशिष्टताए होती हैं। राजनीतिक वैज्ञानिकों को उन सभी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का सम्यक अध्ययन करने के लिए जिनमे कतिपय संस्थाएं विकसित होती है, ऐतिहासिक विश्लेषण पर निर्भर रहना पड़ता है। निश्चित समकालीन समस्याओं के संदर्भ में ही ऐसी संस्थाएं विकसित होती है। जैसे ही समस्याओं की प्रकृति में परिवर्तन होते हैं, हमे पता लगता है कि संस्थाओं के विकास के स्पष्ट कारण क्या थे।

इतिहासकार ही हमें स्थितियों के विभिन्न प्रकारों से अवगत कराते हैं जिनमें 'वस्तुएं, 'घटनाएं', 'संबंध' और 'संस्थाएं' उभरकर सामने आती हैं जिससे उसके परिणामों का भी विश्लेषण होता है। इतिहास प्रयोगशाला जैसी स्थितियों से भरा पड़ा है जिनसे हमें समाज के संबंधो के कारणों व प्रभाव का पता चलता है। किसी विद्वान ने इस संदर्भ मे कहा भी है: "राजनीति संभावनाओं का इतिहास और इतिहास की संभावनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन है।"

उदाहरण के लिए, समकालीन भारत की संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के विश्लेषण के लिए हमारे स्वतंत्रता आंदोलन का अध्ययन निस्संदेह उपयोगी है। विभिन्न मुद्दों के संबंध में आंदोलन के नेताओ को क्या-क्या विकल्प उपलब्ध थे? क्या परिस्थितियां थीं, क्या सीमाएं थीं और क्या संभावनाएं थीं जिनके कारण विकल्प विशेष को अपनाया गया? स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास से हमें समकालीन राजनीति की समस्याओं के संबंध में कुछ सूत्र अवश्य मिलते हैं। एक व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से राजनीति विज्ञान को लाभ मिलता है।

अर्थशास्त्र से संबंध : अर्थशास्त्र समाज मे धन के उत्पादन व वितरण से संबंधित है। भौतिक संसाधन समाज व व्यक्ति दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यह एक सच्चाई है कि ऐसे आर्थिक संबंध व संस्थाएं राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करती हैं। आर्थिक पक्ष की देखभाल राज्य और सरकार का मूल कर्तव्य है क्योंकि समाज कल्याण के लिए आर्थिक विकास महत्त्वपूर्ण है। समाज के प्रबंध से संबंधित किसी भी अभिकरण के लिए यह कार्य केंद्रीय महत्त्व का है।

विभिन्न प्रकार की समसामयिक सरकारें, अपनी-अपनी आर्थिक नीतियों को अत्यंत महत्त्व देती हैं। आर्थिक विकास का नियोजन व परिवीक्षण सभी सरकारों के लिए महत्त्वपूर्ण विषय हैं। आर्थिक गतिविधियों पर राज्य और सरकार का कितना नियंत्रण हो, यह चिंता और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके बावजूद, आर्थिक गतिविधियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि कोई भी सरकार उनकी अनदेखी कठिनाई से ही कर सकती है।

राजनीतिक वैज्ञानिक के लिए समाज में व्याप्त आर्थिक शक्तियों की पारस्परिकता को ध्यान में रखना आवश्यक है। राजनीतिक गतिविधियां आर्थिक कारको से अनिवार्यतः प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, चुनावों में लोगों की सहभागिता पर किए जाने वाला अध्ययन लोगों की आर्थिक अवस्था की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी तरह, किसी सरकार के कार्य-निष्पादन के अध्ययन के लिए, उसकी आर्थिक नीतियों व आर्थिक समस्याओं के समाधान की चेष्टाओं को ध्यान में रखना जरूरी है।

राजनीति तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति को जानना अर्थशास्त्री के लिए भी समान रुप से महत्त्वपूर्ण है। अर्थव्यवस्था के संबंध में लिए जाने वाले अधिकांश निर्णय 'राजनीतिक' होते हैं। इन विषयों में राजनीतिक सोच-विचार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

विश्लेषण के उपकरण जो अर्थशास्त्रियों को उपलब्ध हैं, सुस्पष्ट, सुनिश्चित और अधिकाधिक परिष्कृत होते हैं। इस विषय के विकास ने सार्वजनिक नीति के प्रमुख निहितार्थों को स्पष्ट करने तथा लागू करने में सरकार की भरपूर सहायता की है। उदाहरणार्थ, जब सरकार किसी विशेष वस्तु पर कर बढ़ाने के संबंध में विचार कर रही हो, तब आर्थिक विश्लेषण की सहायता से उसे ज्ञात हो सकता है कि इस कर वृद्धि का प्रभाव अन्य वस्तुओं के मूल्यों तथा अर्थव्यवस्था पर क्या पड़ेगा। ऐसे विश्लेषणों के आधार पर सरकार अपने निर्णय के अनुपालन पर नजर रख सकती है।

नीतिशास्त्र से संबंध : नीतिशास्त्र का संबंध मुख्यतः उन प्रश्नों से है जो लोगों के अच्छे जीवन के सिद्धांतों से जुड़े हैं। नैतिकता के आधार पर यह न्यायसंगत सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि किस 'साधन' से कौन-सा 'साध्य' प्राप्त किया जाए।

राजनीति विज्ञान समूचे समाज के सामान्य हित की प्राप्ति के अध्ययन से संबधित है। इसी संदर्भ में जेरेमी बैंथम व अन्य उपयोगितावादियों ने "अधिकाधिक संख्या के अधिकाधिक सुख" को राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना है। कौन-सी संस्थाएं बनाई जाएं, व उन्हें किस प्रकार संगठित किया जाए और किस प्रकार वे कार्य करें, जिससे कि एक अच्छे समाज की स्थापना हो सके। इस संदर्भ में, नीतिशास्त्र व राजनीति के पारस्परिक संबंधों की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक संगठन का आकलन अंततः इसी संदर्भ में किया जाता है कि किस सीमा तक लोगों के लिए श्रेष्ठ जीवन सुनिश्चित किया जाए।

अच्छे जीवन की सामान्य परिस्थितियों को उत्पन्न कर राजनीतिक व्यवस्था इस दिशा में कार्य करती है। 'श्रेष्ठ' जीवन और 'श्रेष्ठ' समाज की पूर्व शर्तें समाज की विभिन्न संस्थाओं, संगठनों और सामाजिक संबंधों से जुड़ी हैं। दूसरे शब्दों में, 'श्रेष्ठ' जीवन के पहलुओं को संगठित समाज के परिप्रेक्ष्य से देखना होगा। युद्ध, दासता, निर्धनता व अस्वस्थ वातावरण से सुरक्षा की व्यवस्था तथा रक्षा, शैक्षिक अवसरों, स्वतंत्रता तथा मनोरंजन का प्रावधान, सुविधाओं के कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनके लिए लोगों को संगठित समाज पर अनिवार्यतः निर्भर होना चाहिए।

राज्य इन सभी सुविधाओं को उपलब्ध कराने का प्रयास करता है। लेकिन समाज में सदैव कुछ ऐसे वर्ग होते हैं जिन्हें वस्तुओं और सेवाओं में

प्राथमिकता दी जाती है। असमानता का कुछ अंश प्रत्येक समाज में पाया जाता है। विभिन्न सिद्धांतों और विचारधाराओं ने इस तथ्य के विश्लेषण के प्रयास किए हैं तथा समाधान भी प्रस्तुत किए हैं। लेकिन असमानताएं बराबर बनी रहती हैं। राजनीतिक प्रक्रिया एक से अधिक भलाई की ओर अग्रसर तो होती है लेकिन सब का भला नहीं कर सकती। यह सभी संगठित समाजों का सर्वोपरि विरोधाभास है। रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दि लास्ट' (अंत की ओर) तथा उसी संदर्भ में अंत्योदय एवं सर्वोदय के उद्देश्य भी इसी बात पर बल देते हैं कि बिना किसी अपवाद के सभी को शिक्षा प्रदान की जाए। दरिद्रनारायण के कल्याण पर बल इसी उद्देश्य से दिया गया है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत भी इसी तथ्य पर बल देते हैं कि व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त हैं जो 'नैसर्गिक' हैं। सभी को ये अवश्यमेव मिलने ही चाहिए। इस सिद्धांत को इसलिए अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है क्योंकि ये अधिकार श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। लोगों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं क्योंकि उनकी आवश्यकताएं भी प्राकृतिक हैं। राजनीतिक व्यवस्था से यह अपेक्षा की जाती है कि वह लोगों के लिए ऐसे अधिकारों की सुनिश्चित व्यवस्था करे। वास्तव में कितने लोग इन अधिकारों का आंनद लेते हैं, यह राज्यतंत्र की वास्तविक परीक्षा है। समाज की संगठित शक्ति के पात्र होने के नाते राज्यतंत्र, इस उद्देश्य की प्राप्ति नकारात्मक व सकारात्मक साधनों के माध्यम से करता है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को कुछ अधिकारों की गारंटी देता है। राज्य व्यक्ति व समूहों को दूसरे व्यक्ति और समूहों के अधिकारों का उल्लंघन करने से रोकता है और जनसामान्य के जनकल्याण के लिए वह उन गतिविधियों को प्रोत्साहित करता है जो व्यक्ति या समूह नहीं कर सकते।

इस प्रकार व्यक्ति के अच्छे जीवन से संबद्ध नीतिशास्त्रीय मूल्य अंततः राज्य के कार्यो को दिशा-निर्देश देते हैं। सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों का अंततः उद्देश्य इन साध्यों की प्राप्ति है। सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से राज्य के कार्यों से आश्वस्त लोग कानूनों का पालन करने को तैयार रहते हैं। यह राजनीतिक वैधता की प्राप्ति की प्रक्रिया मे सहायक होता है।

नीतिशास्त्रीय एवं नैतिक मानदंडों के चलते व्यक्तियों और राज्यों को अपने-अपने कार्यसंचालन में कुछ परिसीमाओं या प्रतिबंधो का सामना करना पड़ता है। व्यक्तियों और राज्यतंत्र की शक्ति की परिधियो के बाहर कुछ ऐसे निश्चित कारक होते हैं जो उनपर अंकुश लगाने का कार्य करते हैं। संसाधनों की कमी एक ऐसा कारक है जो गंभीर बाधा उपस्थित करता है। व्यक्ति में व्यावहारिक तथा स्वप्नदर्शी या कल्पनालोकी आदर्शो मे अंतर करने की क्षमता होनी चाहिए। कुछ राजनीतिक दार्शनिकों ने जिन कल्पनालोकी राज्यों की बात की है, व्यावहारिक राजनीति के लिए उन आदर्शो का परिपालन संभव नहीं है। राजनीतिक निर्णय प्रायः समझौतों के परिणाम होते हैं। राजनीति को कभी-कभी इसलिए संभाव्य की कला भी कहा जाता है। ऐसी अवस्थाओं में नीतिशास्त्र राजनीति के मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है।

समाजशास्त्र से संबंध : समाजशास्त्र कार्यसंचालन के विभिन्न स्तरों के संदर्भ मे समाज का अध्ययन करता है। यह इस तथ्य का अध्ययन करता है कि किस प्रकार संस्थाएं एक-दूसरी से संबद्ध हैं तथा ये संबंध किस प्रकार के भिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न होते हैं। एक समाजशास्त्री समाज के आंतरिक संगठनो के अध्ययन के साथ-साथ इस बात का अध्ययन भी करता है कि किस तरह दूसरे समाजो से वह भिन्न है। संस्थाओं का अध्ययन, उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यो और जो कार्य उनके द्वारा किए जाने चाहिए, उन के संदर्भ में होता है। व्यक्तियों के आपसी सामाजिक संबंधों के विभिन्न घटकों के संदर्भ में और आगे अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए, परिवार में कई प्रकार के संबंध पाए जाते हैं, जैसे स्त्री-पुरुष, माता-पिता व संतान, भाई-बहन, दादा-दादी और पोता-पोती आदि। कुछ समाजशास्त्री इन संबंधों को अलग कर संगठन के सदस्य के रूप मे उनकी गतिविधियों को देखते हैं।

मानव समाजों के कुछ विशिष्ट पक्षों का अध्ययन भी समाजशास्त्र में होता है, जैसे–संस्कृति, वंश, जाति और धर्म आदि। समाजशास्त्रियों द्वारा मानव समाज के इन पहलुओ का विश्लेषण मानव व्यवहार व समाज में उनके महत्त्व और स्थान के संदर्भ में होता है। व्यवहार के विभिन्न प्रकारों और रूपों को एकत्रित कर उनका विश्लेषण किया जाता है। राजनीति विज्ञान उन्हें अपने विश्लेषण में उपयोगी मानती है। सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्रीय विश्लेषण का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जो राजनीति विज्ञान के लिए अत्यंत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

इन अध्ययनों के विभिन्न स्तरों व चरणों के दौरान समूहों, संस्थाओं व व्यक्तियों की प्रधानता व प्रमुख के जो पक्ष उभर कर सामने आते हैं, वे स्वभावतः अन्वेषण के प्राकृतिक बिंदु बनते हैं। प्रधानता शक्ति से संबंधित होती है और समाजशास्त्रीय अन्वेषण के विभिन्न चरणों में उसका अध्ययन होता है, जिसकी विवेचना हम उपर के संदर्भ में कर चुके हैं–जैसे संस्थाओं, सामाजिक संबधों और व्यक्तियों, प्रधानता के संबंधों (जैसे, किसकी प्रधानता किस पर है) का अध्ययन सभी चरणों में होता है। शक्तिसंबंध और विभिन्न समाजों मे शक्ति का सगठन, जो समाजशास्त्रीय विश्लेषण के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं, राजनीति विज्ञान के लिए विशेष महत्त्व रखते है।

राज्य और सरकार ऐसी संस्थाएं हैं जो लगभग सभी समाजो में पाई जाती हैं और किसी भी समाज के अध्ययन के लिए इन संस्थाओं को ध्यान में रखना ही पड़ता है। दूसरी ओर, राजनीतिक संस्थाएं समाज में ही पाई जाती हैं और उन्हे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही कार्य करना होता है। राजनीतिक समाजशास्त्र एक ऐसे ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन क्षेत्र को रेखांकित करता है। राजनीति विज्ञान के विश्लेषण में केंद्रीय बिन्दु के रूप मे शक्ति संबंधों के बल तथा राजनीति में व्यक्तियों के व्यवहार ने, दोनों शास्त्रो को समीप ला दिया है।

सामाजिक विज्ञान का परिप्रेक्ष्य

विभिन्न विषय जैसे कि इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान, अंततः मानव समाजों से संबंध रखने के साथ-साथ एक-दूसरे से भी संबंध रखते हैं। सामाजिक

तथ्यों व सामाजिक समस्याओं के अतिम' चरण में ये अंतर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इन विषयों के अंतर वास्तविक विश्लेषण में प्रायः कृत्रिम लगने लगते हैं। एक विचार-श्रृंखला के रूप में एक विशिष्ट विषय-वस्तु, जैसे राजनीति विज्ञान का प्रयोग विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से होता है। मानवीय व सामाजिक समस्याएं शास्त्रों एवं विषयों के इन अंतरों को स्वतः स्वीकार नही करतीं। नीति निर्धारण करते समय सरकार को समाज के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखना पड़ता है। ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि विभिन्न विषयों के परिप्रेक्ष्यों को सम्मिलित करके जो अध्ययन किया जाता है, वह सामाजिक यथार्थ के अधिक निकट होता है।

विभिन्न विषयों में निरंतर बढ़ते अध्ययन क्षेत्र, एक-दूसरे की सीमाओं को लांघ जाते हैं। अतः सामाजिक और आर्थिक इतिहास, राजनीतिक अर्थव्यवस्था व राजनीतिक समाजशास्त्र में हमें प्रायः विशेषज्ञ देखने को मिलते हैं। इन विषयों की मिली-जुली अध्ययन पद्धति एक वास्तविक मानवीय समस्या का जो विश्लेषण करती है वह अधिक व्यापक व विश्वसनीय होता है, जो अलग-अलग विषय अध्ययन पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य से प्राप्त नहीं हो सकता। हम विभिन्न समाजों में जैसे भारतीय समाज में निर्धनता के उदाहरण को ले सकते हैं। समस्या के रूप में निर्धनता के कई पक्ष हैं, जैसे- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि राजनीतिक भी। किसी भी समस्या के व्यापक अध्ययन के लिए विभिन्न विषयों के परिप्रेक्ष्यों का ज्ञान स्वभावतः जरूरी है। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों ने विभिन्न शास्त्रों के मध्य संवाद की प्रक्रिया प्रारंभ करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। सामाजिक विज्ञानों ने एक सामूहिक सामान्य भाषा प्राप्त कर ली है, इसमें संदेह नहीं।

अभ्यास

1. राजनीति विज्ञान के अध्ययन के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
2. राजनीति विज्ञान से आप क्या समझते हैं?
3. राजनीति विज्ञान की प्रकृति व विषय क्षेत्र की समीक्षा कीजिए।
4. 'राजनीति' व 'राजनीति विज्ञान' में अंतर कीजिए।
5. वैधता क्या है? इसके महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
6. राजनीति विज्ञान से निम्नलिखित के संबंधों की विवेचना कीजिए :
   क. इतिहास
   ख. अर्थशास्त्र
   ग. नीति शास्त्र
   घ. समाजशास्त्र
7. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   क. शक्ति की अवधारणा
   ख. सामाजिक विज्ञान का परिप्रेक्ष्य

अध्याय 2

राज्य की अवधारणा और तत्त्व

राज्य सामाजिक संगठन की उस अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें व्यवस्था और स्थायित्व की स्थापना हो चुकी हो। पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि मानव समाजों में विभिन्न प्रकार के विवाद व प्रतिस्पर्धाएं भिन्न-भिन्न स्तरों पर होती हैं। विवादों का समाधान ज़रूरी है। समाज और सामाजिक समूहों की कुछ निश्चित आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्ति करना भी जरूरी होता है।

जब लोगों का कोई समूह कोई गतिविधि करता है तो उसके लिए सामूहिक सहमति आवश्यक होती है। यद्यपि इस प्रकार की सहमति में समूहों की साझेदारी तो होती है तथापि इसमें पूर्ण मतैक्य नहीं होता। गतिविधियों की भागीदारी में इस सहमति की मात्रा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। गतिविधियों में अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ लोगो की भागीदारी व योगदान अधिक होता है, लेकिन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संगठित गतिविधि और उसके अनुरूप आचरण करना लोगों के लिए आवश्यक है। क्या इसे व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ दिया जाए कि कुछ उसका पालन करें और कुछ न करें? जो पालन करते हैं, वे सदैव ऐसा ही करें, यह आवश्यक नहीं। किसी भी संगठित गतिविधि के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति उसे स्वीकार करे और उसके पालन को सुनिश्चित करे। इसी कारण संगठित गतिविधियों का एक सत्ता सम्पन्न ढांचा होता है। यह समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक भी है।

सत्ता की एक स्वीकृत व्यवस्था दैनिक संघर्षों की स्थितियों से ऊपर उठने व व्यक्ति तथा समूहों की सामूहिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की व्यवस्था में निस्संदेह सहयोग एवं सहायता करती है। मानव समाजों द्वारा अधिकाधिक सामूहिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने हेतु राज्य की आवश्यकता हुई। सत्ता की आवश्यकता का एक कारण यह भी है कि यह व्यक्तियों और समूहों से श्रेष्ठ होती है और आज्ञापालन को सुनिश्चित करने के लिए उसके पास शक्ति भी होती है। मानव समाजों के विकास में ही श्रेष्ठ सत्ता के रूप में राज्य का जन्म हुआ।

राज्य

राज्य बहुत समय से राजनीति विज्ञान में होने वाले अन्वेषणों का केंद्रबिंदु रहा है। प्राचीन भारत में कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में राज्य के विषय में *सप्तांग सिद्धांत* का विस्तृत विवेचन है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य के सात तत्व होते हैं। वे हैं–*स्वामी*, *अमात्य*, *जनपद*, *दुर्ग*, *कोष*, *दंड* और *मित्र*। इनमें

से जनपद में जनसंख्या व भू-भाग, दोनों ही शामिल हैं। *अमात्य* राज्य की अफ़सरशाही व्यवस्था को इंगित करता है तथा *दंड* का अभिप्राय प्रपीड़क शक्ति से है।

वास्तव में पाश्चात्य राजनीति विचारकों, जैसे हैरोल्ड जे. लास्की और जे. डब्ल्यू. गार्नर ने राज्य के चार तत्त्वों – जनसंख्या, भू-भाग, सरकार तथा संप्रभुता का उल्लेख किया है। राज्य के चार तत्त्वों मे सप्रभुता केन्द्रीय तत्त्व है।' संप्रभुता का तात्पर्य निर्विवाद वैध सत्ता से है।

भू-भाग तथा जिन लोगों पर सप्रभुता संबंधी शक्ति का प्रयोग होता है, उन के संदर्भ में संप्रभुता को परिभाषित करना आवश्यक है। शक्ति प्रयोग क्षेत्र-विशेष एवं लोगो.के संदर्भ मे ही हो सकता है। वैध संदर्भो में संप्रभुता की परिभाषा शक्ति प्रयोग को स्पष्टता तथा महत्ता प्रदान करती है। यदि शक्ति का प्रयोग कानून के अनुरूप ही होना है तो परिभाषा सुस्पष्ट तथा विशिष्ट होनी चाहिए। शक्ति का प्रयोग किस पर? भू-भाग एवं लोग इसके संदर्भ बिंदु हैं। राज्य संप्रभुता सबंधी अपनी शक्ति का प्रयोग एक क्षेत्र-विशेष पर ही करता है। इस प्रकार संप्रभुता संबंधी शक्ति विशिष्ट बन जाती है। अतः सरकार, राज्य का वह तत्त्व है जिसके द्वारा संप्रभुता संबंधी शक्ति का प्रयोग होता है।

जनसंख्या

प्रारंभिक काल में जनसंख्या को राज्य के एक निश्चित तत्त्व के रूप में देखा जाता था। उत्पादन प्रक्रिया में शारीरिक श्रम व देश की रक्षा में जनसंख्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका को आज भी कम करके नहीं आंका जा सकता। दूसरी ओर, राज्य के उपलब्ध संसाधनो से जनसंख्या का अनुपात में अधिक होना, राज्य की जिम्मेदारी को और बढ़ा देता है। संतुलन का यह सवाल आज एशिया व अफ्रीका के देशों के लिए विशेषतया एक गंभीर समस्या बन गया है। जनसंख्या के दबाव की यह स्थिति कुछ आधुनिक देशो के लिए ज्वलंत समस्या बन गई है। इसी कारण जनसंख्या नियंत्रण की दृष्टि से सरकारों द्वारा अपनाए गए कार्यक्रमों को महत्त्व मिलने लगा है। जनसंख्या के आकार के साथ राज्य के नागरिकों के चरित्र की गुणवत्ता व उनमें देशभक्ति की भावना, राज्य की कार्यविधि को निर्णायक रूप में प्रभावित करती है।

भू-भाग अथवा जनसंख्या के आधार पर आकार मे भिन्नता राज्य की वैध स्थिति को प्रभावित नहीं करती। राज्य आकार में बड़े हो अथवा छोटे, उन्हें अपने नागरिकों तथा अन्य राज्यो द्वारा राज्य के रूप में मान्यता प्राप्त होती है। जहां तक राज्यों की वैधानिक स्थिति का सवाल है, वेटिकन नगर और चीन दोनों ही संप्रभु यानी संप्रभुतासंपन्न राज्य माने जाते हैं।

भू-भाग

राज्य का एक निश्चित भू-भाग होता है जिस पर उनका प्रभावी नियंत्रण होता है। राज्य की सीमाओं की सुरक्षा उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना उनका सीमांकन। विवादग्रस्त भू-भागों पर दावेदारी प्रायः दो राज्यों के बीच सैन्य संघर्ष के अवसर उत्पन्न कर देती है। राज्य के क्षेत्र में रहने वाली जनसंख्या राज्य का दूसरा लक्षण है। हालांकि राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने निर्जन क्षेत्र पर भी

नियंत्रण रखे; लेकिन राज्य का संपूर्ण क्षेत्र निर्जन हो, यह अकल्पनीय है।

क्षेत्र व भू-भाग दोनों के संदर्भ में एक गंभीर प्रश्न उभर कर सामने आता है कि एक प्रभावी राज्य का अनुकूलतम या इष्टतम आकार कितना हो? प्लेटो, अरस्तू और रूसो जैसे दार्शनिकों ने इस संबंध में अनेक विचार प्रस्तुत किए हैं। लेकिन उनके विचार उस समय की परिस्थितियों एवं समस्याओं से प्रभावित रहे हैं। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्र संघ के आज के सदस्य राज्यों में काफी विभिन्नता देखने को मिलती है। मोनेको, जिसे 1993 में राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हुई, आकार में सर्वाधिक छोटा राज्य है जिसका क्षेत्रफल मात्र 1.81 वर्ग किलोमीटर है। वेटिकन नगर को भी स्वतंत्र राज्य का दर्ज़ा प्राप्त है, उस का क्षेत्रफल केवल 0.4 वर्ग किलोमीटर भर है। इन स्वतंत्र राज्यों की जनसंख्या क्रमशः 29, 876 तथा 1000 के लगभग है। ठीक इसके विपरीत चीन की जनसंख्या आज 113,05,10,683 है। क्षेत्र के आकार और जनसंख्या की दृष्टि से अन्य राज्य इन दो चरम स्थितियो के बीच मे है। भारत का क्षेत्रफल जहां 32,81,263 वर्ग किलोमीटर है, उसकी जनसंख्या एक अरब से भी ऊपर पहुंच गई है। अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार आकार में अलग-अलग होने पर भी सभी राज्य समान हैं। छोटे राज्यों को भी वही स्थिति प्राप्त है जो बड़े राज्यों की है। लेकिन यह केवल कानून तक ही सीमित है। छोटे-छोटे राज्य विभिन्न कारणों से बड़े-बड़े राज्यों पर स्वयं को आश्रित पाते हैं।

राज्य के व्यवहार्य आकार के संदर्भ में आज हमें दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां देखने को मिलती है। राज्यो की संख्या में वृद्धि 20वी शताब्दी के दौरान हुई है। इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ जिसमें "स्वाधीनता एवं आत्मनिर्णय" के अधिकार पर बल दिया गया था। लोकतंत्रीकरण और गैर-औपनिवेशीकरण के कारको ने इस प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान की। 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के समय उसकी सदस्य संख्या 51 थी, जो आज बढ़कर 188 तक पहुंच गई है। इनमें से कई राज्यों के आकार छोटे हैं लेकिन प्रौद्योगिकी, आर्थिक व व्यापारिक दृष्टिकोण ने आधुनिक काल में बड़े आकार के राज्यों को लाभ की स्थिति मे ला खड़ा किया है। आश्चर्य नहीं कि आज अधिकाधिक राज्य क्षेत्रीय व्यापारिक मंडलों का संगठन करने के लिए एकजुट हो रहें हैं। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC), उत्तरी अमेरिका मुक्त व्यापार समझौता (NAFTA), दक्षिण पूर्व एशियाई राष्ट्र समुदाय (ASEAN) आदि ऐसे सगठनों के प्रमुख उदाहरण हैं।

राज्य का ऐसे भू-भाग पर क्षेत्राधिकार होना चाहिए जिस पर वह अपना प्रभावी नियंत्रण रख सके। परिवहन और संचार साधन इस नियंत्रण के प्रयास में आधुनिक राज्यों की भरपूर सहायता करते हैं। कई राज्य अपनी अनिवार्य आपूर्ति, जैसे खाद्य पदार्थ व औद्योगिक संसाधनों की दृष्टि से आत्मनिर्भर नही हैं। अतः इन्हे दूसरे देशों से आयातों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे अधिक आश्रित होते जाते हैं। छोटे राज्यों के संबंध में यह बात अधिक सही है। राज्यों के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वे कृषि तथा उद्योग उत्पादन मे आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग करें ताकि उनके भू-भागीय क्षेत्र का अनुकूलतम उपयोग हो

सके। आकार के अतिरिक्त भू-भाग के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं– उसकी भौगोलिक स्थिति, स्थान निर्धारण, संसाधन और अंततः जलवायु। एक राज्य एक टापू हो सकता है, एक प्रायद्वीप हो सकता है या पूरे-का-पूरा एक महाद्वीप हो सकता है। कुछ राज्य स्थलरूप हैं तो कुछ की पहुंच समुद्र तक हैं। प्राकृतिक सीमाएं, जैसे पहाड़, समुद्र, महासागर, नदियां, मरुस्थल आदि कुछ राज्यों की सुरक्षा मे मददगार होती हैं। यह देखना भी महत्त्वपूर्ण है कि राज्य के पड़ोसी कैसे हैं, क्या वे शक्तिशाली और आक्रामक है और पड़ोसी राज्यों के साथ उसके संबंध कैसे हैं– मैत्रीपूर्ण अथवा अमैत्रीपूर्ण।

इसमें संदेह नहीं कि एक प्रभावी राज्य के निर्माण में इन कारकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। भौतिक आकार की अपेक्षा भू-भाग का अनुकूलतम एवं इष्टतम उपयोग तथा उस पर प्रभावी नियंत्रण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संप्रभुता

राज्य और अन्य प्रकार के सामाजिक संगठनों में मूल अंतर का कारण है संप्रभुता संबंधी शक्ति जो केवल राज्य में ही सन्निहित होती है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि समाज में कई प्रकार के कानून होते हैं जिनका पालन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। सामाजिक संस्थाओं के अपने कानून, नियम और मानक होते हैं। लेकिन ये नियम और कानून उस रूप में 'वैध या विधिसंगत' नहीं होते जिस रूप में राज्य के कानून होते हैं। राज्य के पास आदेश देने की सर्वोच्च वैध सत्ता होती है। राज्य की परिधि और सीमा के बाहर उसकी वैध शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता। कानून को लागू करने वाले अभिकरण की भूमिका के अतिरिक्त, राज्य का एक अपना वैध अस्तित्व होता है जिस के आधार पर सरकार द्वारा किए गए किसी कृत्य के विरुद्ध नागरिक अपील कर सकता है। राज्य कानूनों का स्रोत होता है जिनका पालन नागरिकों को करना होता है। राज्य स्वयं भी उन कानूनों से शासित होता है जो उसकी कार्यवाही को सीमाबद्ध एवं विनियमित करते हैं। उदाहरण के लिए भारत में एक लिखित संविधान यह दर्शाता है कि राज्य और उसकी संस्थाएं क्या कर सकती हैं और क्या नहीं कर सकतीं। न्यायपालिका को यह सुनिश्चित करने की शक्ति प्राप्त है कि ये संस्थाएं कानून के अनुरूप कार्य कर रही हैं अथवा नही।

आंतरिक तौर पर राज्य के भीतर रहने वाले उन लोगों तथा संगठनों को राज्य की सर्वोच्चता एवं सर्वोपरिता अनिवार्यतः स्वीकार्य होनी चाहिए, जिन पर सर्वोच्चता का प्रयोग है। प्रत्येक राज्य यह स्वीकारोक्ति स्वैच्छिक आधार पर प्राप्त करना चाहता है लेकिन यह प्राप्त करने के लिए वह बल प्रयोग की शक्ति भी रखता है। उदाहरणार्थ, भारत में आयकर संबंधी एक कानून है जिसके अंतगर्त एक निर्धारित सीमा से अधिक आय होने पर सरकार को कर देना होगा। यह अपेक्षा की जाती है कि लोग अपनी आय की घोषणा स्वेच्छा से करेंगे और अतिरिक्त आय पर सरकार को कर देंगे। वास्तव में बहुत लोग ऐसा करते हैं। लेकिन जिन मामलों में स्वैच्छिक आधार पर यह नहीं किया जाता अथवा संदिग्ध रूप में किया जाता है तो राज्य के पास दोषी को दंड देने की शक्ति है। राज्य यह घोषणा करता है कि उसकी संप्रभुता किस विशिष्ट क्षेत्र

तक है। यह मान लिया जाना चाहिए कि भू-भाग तथा जनसंख्या पर राज्य की संप्रभुता निर्विवाद है।

राज्य के लिए दूसरे राज्यों की मान्यता आवश्यक है। यह मान्यता राज्यों के समुदाय द्वारा प्रदत्त होती है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ संप्रभु राज्यों को ही सदस्यता प्रदान करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता संप्रभु राज्य की मान्यता का एक साधन है। जब एक नया राज्य अस्तित्व में आता है तो दूसरे राज्यों व अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की मान्यता उसके लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए एक राज्य के रूप में सोवियत संघ के विघटन के बाद 15 राज्य अस्तित्व में आए। इन नए राज्यों की मान्यता का प्रश्न दूसरे राज्यों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता की दृष्टि से आवश्यक था।

संप्रभुता एक महत्त्वपूर्ण वैध अवधारणा है लेकिन यथार्थ में यह कभी-कभी ही निरंकुश होती है। इस पर बाहरी और आंतरिक दोनों ही तरह के अंकुश हैं। आर्थिक, राजनीतिक व सैन्य स्थिति के संदर्भ में राज्यों में विभिन्नताएं हैं। अधिक शक्तिशाली राज्य कमज़ोर राज्यों को न केवल प्रभावित करते हैं, अपितु उन पर दबाव भी डालते हैं। वास्तव में आज विश्व के राज्य दो गुटों में बंटे हुए हैं – इनमें एक है अधिक शक्तिशाली राज्यों का गुट और दूसरा कम शक्तिशाली राज्यों का गुट। विकसित देश विकासशील देशों पर दबाव डालते हैं और उनके कई महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर उनका प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है। ये प्रभाव आर्थिक और सैन्य, दोनों तरह के होते हैं।

ऐसी ही स्थितियां राज्य के भीतर भी होती हैं जहां कुछ व्यक्ति, समूह और संघ दूसरों की तुलना में अधिक शक्तिशाली व प्रभावशाली होते हैं। सरकारी निर्णयों पर उनका गहरा प्रभाव होता है। अंत में, अपनी संप्रभुता संबंधी शक्ति का प्रयोग करते समय राज्य को सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं को ध्यान में रखना पड़ता है।

सरकार

राज्य को अपनी सप्रभुता संबंधी शक्ति का प्रयोग अपने अधिकार-क्षेत्र के लोगों और भू-भाग पर करना होता है। इसके लिए उसे लोगों के एक विशेष संगठन की आवश्यकता होती है जो उसकी ओर से शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग करता है। यह संगठन सरकार कहलाता है जिसके सभी अंगों की शक्तियां और कार्य निर्धारित होते हैं। विभिन्न कार्यो को संपन्न करने के लिए इस संगठन में अनेक पदाधिकारी होते हैं जिनका या तो चयन होता है अथवा निर्वाचन।

राज्य अपनी सरकारों का गठन भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। और उनकी सरकारों के रूप भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे लोकतांत्रिक अथवा अलोकतांत्रिक, एकात्मक अथवा संघात्मक, संसदीय अथवा अध्यक्षीय शासन व्यवस्था आदि।

राज्य की उत्पत्ति

राज्य अस्तित्व में कैसे आया? राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न सिद्धांत हैं।

सामाजिक समझौते का सिद्धांत यह बतलाता है कि लोगों ने राज्य के संगठन के संबंध में स्वयं निर्णय लिया। पारस्परिक समझौता ही सामाजिक समझौते के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत का उल्लेख बौद्ध धर्म के ग्रंथ *दीघ-निकाय*, कौटिल्य

के *अर्थशास्त्र* तथा *महाभारत* के 'शांति पर्व' में भी मिलता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन थामस हॉब्स, जॉन लॉक व जे.जे. रूसो ने किया। तीनों विचारक इस बात पर सहमत थे कि राज्य, लोगों के मध्य हुए परस्पर समझौते का परिणाम है। लेकिन नागरिक समाज अथवा राज्य की स्थापना के पूर्व की प्राकृतिक अवस्था के संबध में तीनों एकमत नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, उनके द्वारा किया गया प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अलग-अलग था। हॉब्स के अनुसार राज्य से पहले का समाज विकराल था। स्वार्थी लोगों में भयंकर युद्ध की स्थिति थी। सामाजिक समझौते ने इस भयावह स्थिति को समाप्त कर दिया। जॉन लॉक का प्राकृतिक राज्य इतना असह्य नहीं था। उसके अनुसार राज्य की स्थापना का उद्देश्य एक ऐसी विधि-व्यवस्था को लाना था जो समाज में शांति व्यवस्था को सुनिश्चित करे। रूसो के अनुसार प्राकृतिक राज्य के मानव का जीवन 'भद्र मानव' का जीवन था और वहां संपन्नता तथा खुशहाली थी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक स्रोतो का प्रयोग केवल अपनी आवश्यकता के अनुपात में ही करता था। रूसो की दृष्टि में सामाजिक समझौता 'सामुदायिक' भावना का प्रतीक था जिसमें राज्य समाज के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व 'सामान्य इच्छा' के आधार पर करता है। 'सामान्य इच्छा' समाज के सभी लोगों की वास्तविक इच्छाओ का एक सामूहिक रूप है। ये तीनों विचारक इन विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की सरकारों का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन इन तीनों का मत यही है कि राज्य समाज के सचेतन निर्णय की ही परिणति है। यदि सामाजिक समझौते को इतिहास की एक सच्ची घटना नहीं माना जाए तो भी यह राज्य की प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व अवश्य है। समाज की ओर से नियंत्रण के लिए, राज्य शक्ति का भडार है। राज्य, जब समाज की ओर से तथा लोगों के मध्य हुए समझौते के संदर्भ में शक्ति प्रयोग करता है तो उसे समाज की भलाई को ध्यान में रखना होता है और यह सुनिश्चित भी करना होता है कि वह जो कर रहा है वह समाज की भलाई से ही प्रेरित है।

कुछ *मानव-वैज्ञानिकों के विकासवादी सिद्धांत* के अनुसार राज्य, परिवार के ढांचे से जनजातीय विस्तार का परिणाम है। लोगों की सामूहिक आवश्यकताओं जैसे सुरक्षा तथा उत्पादन व्यवस्था इत्यादि की पूर्ति हेतु परिवारो को मिलाकर बड़े जनजातीय (अथवा जातीय) समूहों की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप जनजातियों को मिलाकर विशाल समूहो को एक नेता के अधीन स्थापित किया गया जिससे उन्हे एक व्यवस्थित राज्य उपलब्ध हुआ। कुछ अन्य लेखक सुझाव देते हैं कि राज्यों का विकास उस समय हुआ जब समाज बड़े क्रियाकलापों में संलग्न हुए जिनके लिए उन्हें एक बड़े स्तर पर लोगों के प्रयासों की आवश्यकता पडी। कार्ल ए. विटफौगेल एक "जलीय" समाजों (hydrolic societies) का उदाहरण देते हैं जिसमें वे सिंचाई के लिए एक बड़े पैमाने पर एक-दूसरे पर आश्रित थे। ऐसे कार्यो की कुशल व्यवस्था के लिए एक समुचित नियंत्रण तथा प्रबंधन की आवश्यकता पड़ी जिनका दायित्व राज्यों ने संभाला। शक्ति सिद्धांत के अनुसार समाजों के विकास में चरागाह से कृषि अवस्था में पहले का दूसरे पर अक्सर आधिपत्य स्थापित हुआ। अतः विजय राज्य

के ढांचे के रूप में परिणित हुआ जहां पराजित समूह प्रजा बनी जिसे अपने स्वामीयों को कर देना पड़ता था। इसी अधीनता को क्रियान्वित कराने में राज्य अपने अस्तित्व में आया।

राज्य की संकल्पना

राज्य के संबंध में विचारकों की मनोवृत्ति उभयभावी है। यद्यपि इस तथ्य पर बुनियादी सहमति है कि स्थायी समाजों के लिए राज्य अनिवार्य है लेकिन सिद्धांतवादी राज्य की शक्ति के संबंध में शंकालु दृष्टिकोण रखते हैं। राज्य की महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएं तीन प्रकार की हैं–भारतीय, उदारवादी और मार्क्सवादी ।

भारतीय संकल्पना : भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य की संकल्पना की परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितना कि वेद। इसका निरूपण विस्तृत रूप में *रामायण*, *महाभारत* के 'शांति पर्व', *मनुस्मृति*, *अर्थशास्त्र* और *शुकनीति* में हुआ है। बौद्ध तथा जैन चिंतनों में राजनीतिक संगठन के स्वरूप की भी विवेचना की गई है। भारतीय संकल्पना की जड़ें व्यापक रूप से दार्शनिक परंपराओं मे फैली हुई हैं, जहां *धर्म* की संकल्पना बुनियादी रूप से राजनीति व राजनीतिक संगठनों का मार्गदर्शन करती है। विभिन्न सिद्धांतों ने इस बात का प्रतिपादन किया है। यद्यपि *धर्म* शब्द का प्रयोग सामान्यतः रिलीजन यानी मजहब के अर्थ में ही किया जाता है तथापि इसका क्षेत्र बहुत व्यापक व गहरा होता है और इसमें विधि (कानून), कर्त्तव्य, सामाजिक व्यवस्था, न्याय और सदाचार का समावेश होता है।

प्राचीनतम शास्त्र *मनुस्मृति* में सामाजिक जीवन के लिए विकेंद्रीकरण तथा कल्याणकारी गतिविधियों को राज्य संगठन का आधार माना गया है। ग्रामों, जिलों और प्रांतों के श्रेणीबद्ध आधार पर राज्य के संगठन की सिफारिश की गई है। वास्तव में देश के आकार और उसमें विद्यमान विविधताओं ने कई विद्वानों को यह मानने के लिए प्रेरित किया कि राज्य का संगठन विकेंद्रित इकाइयों के आधार पर होना चाहिए। लोकमत को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है और शासकों की परख *धर्म* के सिद्धांतों के अनुरूप होती रही है।

राज्य के समझौता सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या *वाल्मीकि रामायण* और व्यास के *महाभारत*, विशेषतः उसके 'शांति पर्व' में की गई है। राज्य को विभिन्न तत्त्वों से निर्मित माना गया है – राजा, जनसंख्या, मंत्रीगण, सेना, कोष और न्याय व्यवस्था।

राज्य की व्यावहारिक समीक्षा की परंपरा का आधार कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में पाया जाता है। राजा की शक्ति पर बल देते हुए *सप्तांग सिद्धांत* राज्य के सात तत्त्वों का उल्लेख करता है: *स्वामी*, *अमात्य*, *जनपद*, *दुर्ग*, *कोष*, *दंड* और *मित्र*। *स्वामी* को राज्य संगठन का प्रमुख माना गया है। राजतंत्रों में अथवा गणतंत्रों में *अमात्य* का तात्पर्य उन अधिकारियों से है जो राज्य के विभिन्न कार्यों के प्रभारी होते हैं। *जनपद* में भू-भाग और जनसंख्या सम्मिलित है। *कोष* और *दंड* से तात्पर्य है खज़ाना और सेना, जो राज्य के अनिवार्य हिस्से होते हैं। राज्य के *मित्र* उनके विश्वस्त मित्र-राष्ट्र होते हैं।

कौटिल्य के अनुसार, राज्य को कार्यसंचालन करते समय समाज में कानून-व्यवस्था को बनाए रखने पर ध्यान देना चाहिए। लोगों को सुखी व अच्छा जीवन प्रदान करने की दिशा में महन्त्वपूर्ण प्रयास करना चाहिए। व्यापार, वाणिज्य और उद्योग को प्रोत्साहन देने के साथ- साथ आंतरिक संरचनाएं जैसे सड़कें आदि अनिवार्य थीं।

राज्य के विषय में महात्मा गांधी की संकल्पना भारतीय नैतिकता तथा नीति-विषयक परंपरा पर आधारित थी, जिसमें विकेंद्रीकरण पर अधिक बल दिया गया है। गांधी जी, शक्ति के केंद्रीकरण के विरुद्ध थे क्योकि उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को हानि पहुंचने की संभावना रहती है। ग्राम बुनियादी इकाई है। इसलिए विकेंद्रीकृत शासन-व्यवस्था का प्रारंभ वहीं से होना चाहिए। अधिकांश कार्य स्थानीय स्व-शासी इकाइयों द्वारा पूरे किए जाते हैं तथा राज्य को न्यूनाधिक विनियामक कार्य ही पूरे करने होते है। अतः वह सामुदायिक गतिविधियों पर आधारित स्व-विनियमित शासन-व्यवस्था के समर्थक थे। अहिंसा में परम विश्वास रखने वाले गांधी जी किसी भी तरह के राज्य उत्पीड़न के पक्षधर नहीं थे।

उदारवादी संकल्पना : राज्य की उदारवादी अवधारणा राज्य को एक अनिवार्य तथा उपयोगी संस्था मानती है जिस पर सदैव नियंत्रण बनाए रखने की आवश्यकता है। राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग के प्रति संदेहों से अत्यधिक अभिभूत होने के कारण उदारवारी चिंतकों ने ऐसे रचना-तंत्र की कामना की जो राज्य की शक्तियों पर सांविधानिक अंकुश लगाए।

उदारवादी चिंतन में व्यक्ति को केंद्र माना गया है और वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। न्यूनतम कार्यो वाला राज्य संस्थापित उदारवाद का आदर्श है। एडम स्मिथ का सुझाव था कि, "राज्य का न्यूनतमवादी रात्रि-प्रहरी वाला कार्य आर्थिक विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।"

उदारवाद ने राजनीतिक और सामाजिक तथा सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में विभेद किया है। राज्य का संबंध केवल सार्वजनिक क्षेत्र से है और निजी क्षेत्र को राज्य के नियंत्रण से बाहर छोड दिया जाता है।

मानव बुद्धिसपन्न होता हैं और अपने हितों तथा दावों को बखूबी समझता हैं। राज्य में कई समूह होते है जो अपने अधिकारों के प्रति सजग रहते हैं तथा उन अधिकारों की प्राप्ति के लिए उनमें प्रतियोगिता होती रहती है। व्यक्तियों और समूहों को यह इजाजत होनी चाहिए कि वे स्वतंत्रता के अपने क्षेत्रों को अलग रख सकें। राज्य को तो बस उनकी कार्यव्यवस्था को ही विनियमित करना चाहिए।

जॉन लॉक की रचनाओं के जमाने से ही संविधानवाद के विकास की धारा में राज्य के संबंध में उदारवादी धारणा समाविष्ट हुई। संविधानवाद ने राज्य तथा सरकार की संस्थाओं के प्रबंध के बारे में सुझाव दिए। संविधान को राज्य और सरकार के कार्यों को नियंत्रित तथा विनियमित करना था। संस्थाओं का संगठन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए ताकि उनमे से कोई भी सर्वोच्च न बन सके। शक्तियों के पृथक्करण, सांविधानिक राजतंत्र तथा

बहुमत के शासन की संकल्पनाएं इसी विचारधारा के हिस्से हैं।

टी.एच.ग्रीन, एल.टी. हाबहाउस, जॉन डेवी तथा जॉन रॉल्स की रचनाओं के परिणामस्वरूप उदारवादी स्वरूप में परिवर्तन हुआ। वैयक्तिक स्वतंत्रता के संबंध में उत्तरवर्ती उदारवादियों का दृष्टिकोण सकारात्मक है। उनका सुझाव है कि राज्य ऐसी स्थिति में है कि वह ऐसे कानून बनाए जो वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन दें। वैयक्तिक अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रोत्साहन के लिए वे राज्य को व्यापक कार्य और सक्रिय भूमिका देने को तैयार हैं। राज्य की सकारात्मक भूमिका तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता में संतुलन स्थापित करना नव-उदारवादियों के चिंतन का प्रमुख विषय है।

जॉन लॉक ने *सहमति के सिद्धांत* का प्रतिपादन किया। रूसो की दृष्टि में 'लोक प्रभुता' और 'सामान्य इच्छा' महत्त्वपूर्ण है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने प्रतिनिधि तथा उत्तरदायी सरकार को अधिक महत्त्व दिया। राज्य मे कितने लोग वास्तव में शक्ति प्रयोग करते हैं और कितने लोगों के पास शक्ति रहनी चाहिए, इस बात पर भारी बहस है। इस प्रकार हम 'एक व्यक्ति के शासन', 'कुछ लोगों के शासन' तथा 'बहुत से लोगों के शासन' में भेद पाते हैं।

राज्य के संबंध में अराजकतावादियो, बहुल-वादियों, मार्क्सवादियो तथा गांधीवादी राजनीतिक चिंतन की परंपरा में बुनियादी आपत्ति उठाई गई है। अराजकतावादी राज्य की किसी भी प्रकार की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे व्यक्तियो की 'संपूर्ण स्वतंत्रता' (पूर्णतः प्रतिबंध-विहीन) की वकालत करते हैं। राज्य जैसी संस्था को थोपने के स्थान पर वे सामूहिक उददेश्यों की पूर्ति के लिए लोगों में स्वैच्छिक सहयोग की वकालत करते हैं।

मार्क्सवादी संकल्पना : राज्य की प्रकृति का मार्क्सवादी विश्लेषण समाज की संस्थाओं के संबंध में उसकी बुनियादी मान्यता के अनुरूप है कि ये प्रचलित उत्पादन-व्यवस्था व तरीके की प्रतिबिंब हैं। ऐसे आर्थिक तर्क समाज के लोगो को, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में संलग्न हैं, वर्गों में विभाजित कर देते हैं। इस वर्ग विभाजन की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि ये एक-दूसरे से संघर्षरत रहते हैं। संघर्ष, बुनियादी तौर पर आर्थिक होता है लेकिन एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व जमाने के लिए भी होता है। मार्क्सवादी समझ राज्य को ऐसे वर्ग-विरोध से जोडती है। इस प्रकार उत्पादन-व्यवस्था व वर्ग अंतर्विरोधों की परिणति राज्य का चरित्र निर्धारित करती है। इतिहास की दृष्टि से राज्य के कई रूप रहे हैं। लेकिन, उनमे से सभी 'वर्ग-राज्य' बने रहे हैं; जिसका अभिप्राय यह हुआ कि आर्थिक दृष्टि से शक्तिसंपन्न वर्ग राज्य को भी नियंत्रित करता है। राज्य शक्तिशाली वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य उत्पादन व्यवस्था द्वारा घोषित संरचना के आधीन और अनुरूप कार्य करता है।

राज्य, पूर्णतः स्वतंत्र राजनीतिक ढांचा नहीं होता बल्कि उसकी जड़ें समाज की आर्थिक संरचना मे होती हैं। राज्य की प्रकृति आर्थिक संरचना में सन्निहित होती है। राल्फ़ मिलिबैंड इसे राज्य का 'संरचनात्मक आयाम' कहता है। राज्य का इतिहासवादी विकास उसे विशिष्ट चरित्र प्रदान

करता है। उदाहरण के लिए, सभी 'पूंजीवादी' राज्य पूजीपति वर्ग द्वारा शासित होते हैं, लेकिन पूंजीपति वर्ग और उसके शासन के स्वरूप अलग-अलग हो सकते हैं। इसी प्रकार,'समाजवादी' राज्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। राज्यो के इतिहासवादी विकास के विश्लेषण के बाद ही राज्यों के अंतर को समझा जा सकता है।

अतः राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत विश्लेषण के दो तरह के कारकों पर बल देता है – सामान्य कारक और विशिष्ट कारक। सामान्य विश्लेषण के अनुसार राज्य नामक संस्था समाज के 'वर्गो' द्वारा निर्धारित होती है और वह वर्गीय शासन का यंत्र है। तथा विशिष्ट विश्लेषण के अनुसार प्रत्येक राज्य का विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो उसे विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।

राज्य की गतिविधियों का अधिकार क्षेत्र

समाज की किन गतिविधियों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए? किस सामाजिक गतिविधि पर राज्य का कितना नियंत्रण हो? ये प्रश्न राज्य-विषयक सिद्धांतों के केंद्रीय विषय रहे हैं। इन प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न तरीको से विचार किया गया है। जिस तरह राज्य की अवधारणा में परिवर्तन होता रहा है, उसी तरह राज्य की गतिविधियों के अधिकार-क्षेत्रों में भी परिवर्तन हुए हैं।

राज्य की गतिविधियों के अधिकार-क्षेत्र की विवेचना उदारवादी सिद्धांत की प्रतिरूपी रही है जिसकी जड़ें सत्रहवीं शताब्दी के पूंजीवाद के विकास में जमी थीं। इस परिप्रेक्ष्य ने राज्य की गतिविधियों तथा समाज की आर्थिक गतिविधियों में विभेद को सुस्पष्ट किया। पूंजीवाद के क्रियाकलाप के दोषों तथा उनसे उत्पन्न विकृति का उभरना स्वाभाविक था। राज्य और समाज के संबंध समय-समय पर अलग-अलग रहे हैं और इस मुद्दे पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि यदि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता दे दी जाए तो वे स्वभावतः एक साथ सामान्य हित की ओर अग्रसर होंगे। अतः आर्थिक मामलों में राज्य की सत्ता सीमित की जानी चाहिए। जिस सिद्धांत ने सामाजिक, आर्थिक प्रक्रिया के अंतर्गत अधिकतम स्वायत्तता पर बल दिया और राज्य के लिए सीमित कार्यक्षेत्र की चर्चा की, वह *अहस्तक्षेप के सिद्धांत* के नाम से जाना जाता है।

बाद के सिद्धांतों व विचारधाराओं ने 'मुक्त बाज़ार' की कार्यकुशलता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। उनके अनुसार व्यक्तियों तथा समूहों को आर्थिक गतिविधियों में संपूर्ण स्वतंत्रता व राज्य की ओर से न्यूनतम हस्तक्षेप की बात पूरे समाज के कल्याण से ओत-प्रोत नहीं है। यह तर्क दिया गया कि ऐसी स्वतंत्रता सभी के लिए 'लाभप्रद' नहीं भी हो सकती। इसके ठीक विपरीत इससे समाज में अराजकता उत्पन्न हो सकती है और यह समाज के कुछ वर्गो के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए यह निर्धनतम और असुविधाग्रस्त लोगों के हितों के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है।

मुक्त बाजार के आलोचकों के अनुसार सामान्य हित स्वतः ही नहीं होता अपितु इसके लिए सचेतन नीतियों एवं कल्याणकारी कार्यक्रमों के माध्यम से प्रयास करना होता है। समाज के लिए एक बार ऐसी नीति निर्धारित हो जाने पर केंद्रीय सत्ता को

उसे लागू एवं संरक्षित करना सुनिश्चित करना चाहिए। यह उपागम समाज की व्यवस्थित उन्नति को सुनिश्चित करने हेतु 'स्व-नियमन' की वकालत करता है। इस विचार के अनुसार बाजार का नियमन एवं आय का पुनर्वितरण सरकार के समुचित कार्य हैं। कल्याणकारी राज्य के विचार ने राज्य के कार्यक्षेत्र में विस्तार को मान्यता दी तथा उसे बड़ी समजिक-आर्थिक समस्याओं को अपने कार्यक्षेत्र में सम्मिलित करने हेतु अधिकृत माना। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* कल्याणकारी राज्य की अवधारणा और इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु कल्याणकारी राज्य के कार्यों का विस्तृत वर्णन करता है। मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीतिक तथा आर्थिक गतिविधियों में किसी स्पष्ट भेद को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में राज्य प्रमुख आर्थिक शक्तियों का ही प्रतिनिधित्व करता है। समाजवादी-मार्क्सवादी विचारानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत है और इसमें समाज हित के लिए आवश्यक सभी गतिविधियां सम्मिलित हैं। कल्याणकारी राज्य और समाजवादी-मार्क्सवादी राज्य की अवधारणा 'हस्तक्षेपक राज्य' के प्रारंभ को अंकित करती है। उसके अनुसार समाज की आर्थिक गतिविधियों में राज्य का सार्थक हस्तक्षेप होना चाहिए। हाल के विद्वानों, जैसे सी. बी. मैकफर्सन ने हस्तक्षेपक राज्य के कुछ विशेष पहलुओं को राज्य की गतिविधि के अधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित करने का सुझाव दिया है। पूंजीवाद के गैर-मानवीय पहलुओं के कायल नव उदारवादी लेखकों ने समाज के कुछ क्षेत्रों में राज्य की अधिक पहुंच की वकालत की है।

राज्य, आधुनिक काल में अधिक सशक्त हुआ है। ऐसी ऐतिहासिक शक्तियां, जिनके परिणामस्वरूप राज्य की शक्ति बढ़ी, अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग थीं। विकासशील राज्यों में दिखने वाली शक्तियां और कार्यव्यवस्थाएं, अमेरिका और इंग्लैंड जैसे राज्यों से भिन्न हैं। समाजवादी देशों के अपने तर्क थे। विज्ञान और तकनीक एवं सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं ने समाज को अधिक जटिल बना दिया और राज्य की शक्ति में वृद्धि को प्रशस्त किया। राज्य और समाज में अतर को महत्त्व प्राप्त हुआ।

1990 के दशक में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, दोनों प्रकार की नानविद् शक्तियों के प्रभाव से राज्य के अधिकार-क्षेत्र की अवधारणा में परिवर्तन का एक ओर दौर आया। आर्थिक और व्यापारिक मामलों में बढ़ती भू-मंडलीकरण की प्रवृत्ति ने सभी देशों को प्रभावित किया। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं, जैसे विश्व-बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, अब अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए हैं; विशेषतया उन देशों के संदर्भ में जो अपने विकास के लिए उन पर आश्रित हैं। अंतर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन में हुए परिवर्तनों ने विश्व का ध्रुवीकरण कर दिया है। देश अधिकांशतः अपने कार्य निजी प्रबंधक संस्थाओं को सौंप रहे हैं। राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी गतिविधियों को कम से कम कार्यों तक सीमित कर ले। निजीकरण आज चर्चा का प्रमुख विषय है। वर्ष 1990-91 के दौरान भारत में उदारीकरण की नीति को लागू किया गया जिसका सीधा अभिप्राय था राज्य गतिविधि के अधिकार-क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन। चक्र पूरा घूम चुका है और प्रचलित नीति का स्पष्ट संकेत है कि राज्य के कार्यों को सीमित किया जाए।

अत. राज्य सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करता है, कुछ को सीमित करता है, कुछ प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है, कुछ को दबाता है और इन नीतिगत-निर्णयों के द्वारा समाज को एक दिशा देता है। इसीलिए राज्य और समाज के बीच संबध जटिल हैं। कई बार राज्य को एक कठिन संतुलन स्थापित करना पड़ता है। यह कठिन कार्य राज्य द्वारा निर्मित कानूनों मे प्रतिबिंबित होता है। कानूनों को सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, परंपराओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। साथ ही कानून बनाते समय राज्य को उन अवांछित परंपराओं और संस्थाओ को भी ध्यान में रखना पड़ता है जिनमे बदलाव लाना जरूरी हो गया है। यह आवश्यक हो जाता है कि समाज को स्वस्थ रखा जाए तथा उसे उपयुक्त दिशा दी जाए। राज्य से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के विकास का भी ध्यान रखे। इसी आधार पर विधिनिर्माण समाज मे प्रचलित व्यवहारों में सतुलन लाने के साथ-साथ नए व्यवहारों और संस्थाओं के द्वारा उपयुक्त निर्देश को भी प्रतिबिंबित करता है। राज्य और समाज के पारस्परिक संबंध अनुपूरक होते हैं इसीलिए ये एक-दूसरे को निर्धारित करते हैं और एक दूसरे से निर्धारित होते हैं।

अभ्यास

1. राज्य से आप क्या समझते हैं? यह अनिवार्य क्यो है?
2. राज्य के चार तत्त्वो की व्याख्या कीजिए।
3. *राज्य के सप्तांग सिद्धांत* के अनुसार राज्य के तत्त्वो का उल्लेख कीजिए।
4. राज्य की विभिन्न अवधारणाएं क्या हैं?
5. राज्य अस्तित्व मे कैसे आया? विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
6. राज्य की गतिविधियों के बदलते अधिकार-क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
7. व्याख्या कीजिए :

   (क) राज्य की भारतीय अवधारणा

   (ख) राज्य की उदारवादी अवधारणा

   (ग) राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा

अध्याय 3

समाज, राज्य और नागरिक

समाज और राज्य

मनुष्य अपने अस्तित्व की रक्षा और बेहतर जीवन के लिए परस्पर मिल-जुल कर रहते हैं। वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कई प्रकार के संबंध स्थापित करते हैं। ऐसे संबंधों के विभिन्न स्तर होते हैं जो अपने लक्ष्य के अनुसार संस्थाओं के रूप में विकसित होते हैं। इन्हीं लक्ष्यों, संबंधों और संस्थाओं की समष्टि को ही समाज कहते हैं।

'समाज' शब्द का प्रयोग दो स्तरों पर किया जाता है। व्यापक अर्थ में व्यक्तियों के समूह, संस्थाओं, मानदंडों और संबंधों को समाज कहा जाता है। इसमें सभी व्यक्ति और संबंध समाहित होते हैं। इसी अर्थ में हम 'भारतीय समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं।

दूसरे स्तर पर, 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के ऐसे समूह के लिए किया जाता है जो किसी विशेष उद्देश्य के लिए संगठित होते हैं। हमने दुग्ध सहकारी समाज, अंधता निवारण समाज, संगीत समाज इत्यादि समाजों के विषय में सुन रखा है। यहां 'समाज' शब्द का प्रयोग आंशिक रूप में ही किया गया है क्योंकि ये पूरे समाज के अंग मात्र हैं। समाज का रूप समग्र हो सकता है और आंशिक भी। हम भारतीय समाज की बात करते हैं तो दूसरी ओर रेडक्रास समाज की भी। हम यहां समाज शब्द के समग्र रूप और व्यापक अर्थ को ही लेंगे। मानव समाज के विकास के साथ विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु सस्थाएं अस्तित्व मे आती हैं। इस प्रकार आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संस्थाएं बनती हैं।

प्रायः भीड़ और समाज में भेद किया जाता है। लोगों के एक-साथ इकट्ठा होने से ही समाज नहीं बनता। किसी समूह को समाज तभी कहा जाता है जब उस समूह की उभयनिष्ठ इच्छा और उद्देश्य हों। जैसे-जैसे मानव समाज का विकास होता है और वह उन्नति के विभिन्न स्तर प्राप्त करता है तब विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का निर्माण होता है। नई आवश्यकताओं के प्रतिक्रिया स्वरुप संस्थाएं पनपी हैं। विद्वानो के अनुसार राज्य भी एक ऐसी ही संस्था है, जिसका विकास मानव समाज के विकास की एक निश्चित अवस्था में हुआ है। राज्य सामान्य और उभयनिष्ठ लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु बनता है जिसे निश्चित कार्य और शक्तियां सौंपी जाती है।

मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक आधारभूत कार्यों और क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से समाज का अर्थ व्यापक है। मानव वैज्ञानिक

सामान्यतः मानव विकास का अध्ययन करते हैं और प्रायः एकाकी जनजातीय समाज तक सीमित रहते हैं। मानव वैज्ञानिक साहित्य में ऐसे समाजो के उदाहरण मिलते हैं जहां संगठित राज्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिण सूडान में नूएर, गोल्ड कोस्ट के उत्तरी क्षेत्र में तेलेन्सी, आंग्ल-मिस्र सूडान क्षेत्र मे आनुक, कीकूयू, बीडोइन और पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान सीमा पर स्थित स्वात पठान जातियां यह दर्शाती हैं कि इन जातियों मे संगठित प्राधिकार व्यवस्था तो है, परंतु विधिवत गठित राज्य नहीं है। इसके विपरीत, 'समाज रहित राज्य' कल्पना से परे है। इसी अभिप्राय से विचारक समाज को राज्य से पहले मानते हैं।

राज्य के दो महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं – संप्रभुता और निश्चित भू-भाग, जो समाज के लिए आवश्यक नहीं हैं। हम पहले जान चुके हैं कि राज्य के पास अंतिम कानूनी सत्ता होती है और यह आज्ञा का पालन करवाने हेतु बल का प्रयोग कर सकता है। समाज और सामाजिक संस्थाओ के पास यह शक्ति नहीं होती, लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग उनकी आज्ञा का पालन न करें। प्रथाएं, परंपराएं, लोकाचार और सबसे बढ़ कर व्यक्ति की सुविधा और स्वार्थ आज्ञापालन के लिए महत्त्वपूर्ण कारण हैं। कुछ मामलों में आज्ञा का पालन न करने वालों के विरुद्ध बलप्रयोग भी किया जाता है। लेकिन जब सामाजिक संस्थाए बलप्रयोग करती हैं तब उनका क्षेत्र और उद्देश्य सीमित होता है। प्रत्येक स्थिति में ये संस्थाएं राज्य के अंतर्गत आती है और इस कारण राज्य की संप्रभुता का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

समाज विभिन्न कारणों से लोगों को परस्पर बांधता है। यह कतई आवश्यक नहीं है कि सभी लोग एक ही भू-भाग में रह रहे हों। सही अर्थो में समाज किसी विशेष भू-भाग तक सीमित नही होता। संस्थाओं के सामूहिक लक्ष्य और बंधन, जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, राज्य के सामूहिक लक्ष्यों और बंधनों से कम अथवा अधिक विस्तृत हो सकते हैं। दोनों एक समान हों यह आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, जब हम 'हिंदू समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो यह भारत और नेपाल के लोगों को दर्शाता है। इसी प्रकार, 'ईसाई समाज' कई राज्यों में फैला हुआ है।

राज्य और समाज में भेद करना अनिवार्य है। जैसा कि हमने पहले देखा है, समाज के अंतर्गत कई प्रथाएं, संबंध और संस्थाएं आती हैं, जबकि राज्य केवल राजनीतिक पक्ष से जुडा है। लेकिन राज्य के पास अधिक शक्ति है जिसका वास्तविक प्रयोग विभिन्न पदों पर आसीन लोग करते हैं। यदि राज्य अपने कार्य और नियंत्रण को समाज के प्रत्येक पक्ष तक बढ़ा दे तो समाज का राज्य के नियंत्रण में होना संभव है। ऐसा राज्य, जो सभी सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों के क्रियाकलापों को नियंत्रित करता है, 'सर्वसत्तात्मक राज्य' कहलाता है।

हमने पहले देखा है कि युगों से विचारको ने राज्य और समाज में अंतर किया है। इस अंतर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'नागरिक समाज' शब्द का प्रयोग किया जाता है। राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करने के लिए सुझाव दिए गए हैं और कुछ कार्यो एवं संस्थाओं को अनन्य रूप से नागरिक समाज से संबद्ध माना गया है। समाज की समस्त

गतिविधियों और संस्थाओं पर नियंत्रण का लक्ष्य रखने वाले राज्य को सर्वश्रेष्ठ श्रेणी में नही रखा जाता। सर्वसत्तात्मक राज्य शब्द का प्रयोग निरादर भाव से किया जाता है।

राज्य और सरकार

राज्य और सरकार कभी-कभी समानार्थक रूप में प्रयोग होते हैं। आइए, हम इनमें अंतर स्पष्ट करें। राज्य संबंधों और संस्थाओं के व्यापक समष्टि रूप का प्रतिनिधित्व करता है और सरकार इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भू-भाग और जनसंख्या, जिस पर राज्य अपनी संप्रभुता का प्रयोग करता है, राज्य के लक्षण हैं।

राज्य के लिए अपनी संप्रभुता और शक्ति प्रंयोग आवश्यक होता है ताकि वह प्रत्यक्ष संस्थाओं के माध्यम से स्वयं को प्रकट करे। संप्रभुता को "किसके पास, किसके ऊपर, कितनी और कैसी शक्ति होगी" के अनुरूप परिभाषित किया जाना है। शक्ति के ये संबंध सुस्पष्ट होने चाहिए। संस्थाओं और सुस्पष्ट परिभाषित शक्ति के माध्यम से राज्य का रूप झलकना चाहिए। राज्य के इसी प्रत्यक्ष और मूर्त्त रूप का प्रतिनिधित्व सरकार करती है। सरकार के माध्यम से ही राज्य प्रभावशाली होता है। राज्य के कार्यो के लिए सरकार एक साधन है। इसका संगठन सरकारी पदाधिकारियों द्वारा होता है, जिनके पास सांविधानिक और वैधानिक शक्तियां होती हैं तथा इनके क्रियाकलाप की व्यवस्था सुनिश्चित होती है। सरकार के आधुनिक स्वरूपों में, जिनकी चर्चा हम बाद में करेंगे, सत्ता और कार्य व्यवस्था की परिभाषाएं महत्त्वपूर्ण हैं। संस्थान और संस्थाओं में पदासीन अधिकारी तथा शक्ति प्रयोग की कार्य व्यवस्था के सम्मिलित रूप को सरकार कहा जाता है। दो राज्यों के एक जैसे लक्षण होने पर भी वहां अलग-अलग प्रकार की सरकारें हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका और इंग्लैंड जैसे राज्यों के तत्त्व तो एक से हैं परन्तु अमेरिका में सरकार अध्यक्षीय और इंग्लैंड में संसदीय है।

सरकारी संस्थाओं के नाम एक-जैसे हो सकते हैं परंतु उनकी शक्तियों और कार्यों में भिन्नता हो सकती है। भारत और अमेरिका की सरकारों के संविधान संघात्मक हैं, परन्तु दोनो देशों में संघ के लक्षण और स्वरूप बिल्कुल भिन्न हैं।

सरकार संस्थाओं से मिल कर बनती है जिसमें व्यक्ति सत्ता के विभिन्न पदो को धारण करते हैं। इन संस्थाओं का गठन कैसे होता है? उदाहरण के लिए, भारत सरकार में लोक सभा और मंत्रि-परिषद जैसी संस्थाएं हैं। उनके गठन के समय यह सुस्पष्ट होना चाहिए कि लोक सभा के सदस्यों को कैसे चुना जाए और किस प्रकार मंत्री नियुक्त किए जाएं। इसी प्रकार एक निश्चित अंतराल पर साधारण चुनाव करवाए जाते हैं और उनके आधार पर लोक सभा का गठन होता है। प्रधान मंत्री, अपने अधीनस्थ मंत्रियों को चुनता है और स्वयं प्रधान मंत्री का चयन विभिन्न राजनीतिक दलों की लोक सभा मे सांसदों की संख्या के आधार पर होता है।

सरकार को परिभाषित करने वाले नियम और कार्यप्रणाली, सरकार में व्यक्तियो द्वारा विभिन्न पद ग्रहण करने की विधि भी सुनिश्चित करते हैं। इस प्रकार, भारत में प्रत्येक पांच वर्ष बाद चुनाव होते हैं और इन चुनावों के बाद नई सरकार

बनती है। एक ही राज्य में समय-समय पर अलग-अलग सरकारें सत्ता में आ सकती हैं। भारत में प्रत्येक चुनाव के बाद सरकार बदल जाती है। सांविधानिक संशोधनो के माध्यम से भी कुछ परिवर्तन किए जा सकते हैं। राज्य के स्वभाव और स्वरूप को परिवर्तित करना अधिक कठिन है। चीन मे 1949 में क्रांति के बाद परिवर्तन आया। राज्य का स्वरूप भी धीरे-धीरे बदल सकता है जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में हुआ। शांतिपूर्ण ढंग से विदेशी शासन उखाड़ फैंकने से भी नए राज्य बन सकते हैं, जैसा 1947 में भारत मे हुआ। राज्य के स्वरूप परिवर्तन के साथ सरकार के रूप और प्रकार में भी परिवर्तन आ सकता है। जब एक नए राज्य का जन्म होता है तो वह अपनी प्राथमिकताओं के अनुरूप सरकार के रूप, प्रकार को परिभाषित करता है। राज्य की तुलना में, सरकार में परिवर्तन लाना और बार-बार लाना अधिक आसान होता है। सरकार की तुलना में राज्य अधिक स्थायी है।

सरकार के अंगों की शक्तियां विधिपूर्वक परिभाषित की जाती हैं। सरकार के अंगों–कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका की संविधान द्वारा परिभाषित अपनी-अपनी शक्तियां और कार्य हैं। इसी प्रकार, संस्थाओं में विभिन्न पदाधिकारियों की शक्तियां एवं कार्य सुपरिभाषित हैं। नागरिकों द्वारा राज्य का विरोध, विद्रोह माना जाता है परंतु सरकार का विरोध विधि-सम्मत माना जाता है। वस्तुत· स्वस्थ लोकतन्त्र के लिए रचनात्मक विपक्ष का होना आवश्यक बन गया है।

जैसा कि हमने पहले देखा है, कि व्यवहार में प्रायः राज्य और सरकार एक ही प्रतीत होते हैं, फिर भी दोनों में भेद करना आवश्यक और उपयोगी होगा।

राज्य और राष्ट्र

कोई भी समाज अपने लोगों के समान लक्षणों के आधार पर अपने को अन्य समाजों से भिन्न मानता है। इस भिन्नता के कई आधार हैं, जैसे संस्कृति, वंशावली, भाषा, धर्म, क्षेत्र और जाति आदि। व्यक्तियो, समूहो और संस्थाओं के बीच इस प्रकार की विभिन्न समानताओ के आधार पर समाज अपने को दूसरी संस्थाओं से भिन्न मानता है।

व्यक्तियो और समूहों के बीच भी भेद होते हैं। जैसा कि हमने पहले पढ़ा है, राजनीति अंतरों और समानताओ तथा विवाद और एकरूपता से संबंधित है। समाज में एकीकरण के स्तर में वृद्धि करना राज्य के मुख्य कार्यो में से एक है। राज्य इस लक्ष्य को भिन्न-भिन्न माध्यमों से प्राप्त करने का प्रयास करता है। राष्ट्र का भाव और राष्ट्रीयता की प्रक्रिया, एकजुटता, विभिन्न आधारों पर समानता, भाषा, धर्म, जाति, प्रयासों, विश्वासों, मूल्यों और सस्कृति पर बल देती है। इनके द्वारा अलग-अलग अथवा सम्मिलित रूप से लोगों में एकजुट होने की भावना आती है।

राष्ट्र के प्रादुर्भाव मे कौन-से कारक सहायक बनते हैं? इस संदर्भ में व्यक्त किए गए अनेक कारकों में कुछ विचारक भौगोलिक तथा मौसम संबंधी स्थितियो पर अधिक बल देते हैं। एकाकी व अलग-थलग क्षेत्रों में रहने वाले लोगों में अधिक एकजुटता होगी। स्थलरुद्ध देशों जैसे तिब्बत और खुले समुद्री तटों वाले देशों की अपनी विशिष्ट विशेषताएं होंगी।

प्रसिद्ध लेखक फिश्टे के दिनों से ही भाषा को एक कारक के रूप में पहचाना गया, जो संवाद का सशक्त माध्यम होने के कारण एकरूपता लाने में

सहायक होता है। 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में भाषा के आधार पर अंशभूत इकाइयों की पहचान की गई। 1928 में सर्वदलीय सभा की नेहरू रिपोर्ट के माध्यम से इस नीति को और मजबूत किया गया। 1956 मे राज्यों के पुनर्गठन के बाद भाषा पर आधारित इकाइयों के गठन की नीति मान्य नीति बन गई। यह तो मात्र प्रारंभ था। 1966 तक आते-आते भारतीय संविधान की आठवी सूची में दर्ज सभी भाषाओं के अपने-अपने अलग राज्य बन चुके थे।

किसी मत अथवा विचारधारा मे साझेदारी भी एक राष्ट्र के उद्‌भव मे सहायक होती है। एक समूह में सामान्य बंधन और पहचान को मज़बूत करने की इच्छा अथवा जागरूकता हो सकती है। विशेष परिस्थितियों मे अलग पहचान का भाव उभर सकता है। साथ रहने की इच्छा समान आदर्श और समान नियति में साझेदारी करने से और बलवती होती है। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्र होने के विचार ने विभिन्न प्रकार के लोगों को एक साथ स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्यधारा में ला दिया। 1917 में विभिन्न सांस्कृतिक, भाषायी और धार्मिक समूह एक आशातीत भविष्य के आधार पर सोवियत संघ बनाने के लिए एक साथ आ खड़े हुए थे।

इस प्रक्रिया में इतिहास की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यक्तियों की भांति राष्ट्र भी इतिहास से जन्मे है। जब हम किसी काल-विशेष मे एक समाज को देखते हैं तो पाते हैं कि इसे अतीत की घटनाओं और प्रक्रियाओं ने प्रभावित किया है। ऐतिहासिक अनुभव दो प्रकार के होते हैं – वस्तुपरक और आत्मपरक। आइए, हम इनका विवेचन करें। कुछ घटनाएं इतिहास में घटती रही है। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों ने 1858 में औपचारिक तौर पर भारत पर नियंत्रण स्थापित किया, 1870 में बंगाल में अकाल पड़ा, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और उसी समय इसका विभाजन भी हुआ। विभिन्न प्रकार की छोटी-बड़ी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक बातों का समाज पर प्रभाव पड़ता है। समाज के इतिहासवादी विकास के लिए प्राकृतिक आपदाओं और युद्धों का अपना अलग महत्त्व होता है। ये तथ्य वस्तुपरक हैं और ये वास्तविक घटनाएं हैं जिनके लिए प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उनके विषय मे कोई विवाद नहीं है।

ऐतिहासिक तथ्यों का एक और पक्ष है– भिन्न-भिन्न लोगों के समूह इतिहास के तथ्यों को अलग-अलग ढंग से समझते और निष्कर्ष निकालते हैं। उदाहरण के लिए, ऊंची जाति और दलित वर्ग के लोगों के जाति-व्यवस्था के संबंध में विचार भिन्न-भिन्न हैं। अनुभव करने और व्याख्या करने की इस प्रक्रिया में कुछ घटनाओं को चुन लिया जाता है और कुछ को भुला दिया जाता हैं कुछ का महत्त्व बढ़ा दिया जाता है और कुछ का घटा दिया जाता है। इस प्रकार के इतिहास निर्माण में तथ्यों का प्रयोग चुनीदा ढंग से किया जाता है। इतिहास की समझ जिसे कभी-कभी हम आत्मपरक कहते हैं, का मानवीय व्यवहार पर गहरा प्रभाव होता है। "इतिहास के पुननिर्माण" की भी एक प्रक्रिया होती है। पारस्परिक संबंधो पर बल देते हुए अतीत को पुनर्जीवित किया जाता है। कई नए राष्ट्र इतिहास के पुनर्लेखन और झूठे मिथकों तथा विचारों को उजागर करना आवश्यक मानते हैं।

भारत के विषय में ब्रिटिश इतिहासकारों के अनेक विचार और व्याख्याएं भारतीयों को स्वीकार नहीं हैं। साझे अतीत और साझे भाग्य की मिश्रित भावना का एक राष्ट्र के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है।

अंग्रेजी भाषा के 'नेशन' (राष्ट्र) शब्द का उद्गम लैटिन भाषा के शब्द 'नेट्स' से हुआ है जिसका अर्थ है 'जन्म' और राष्ट्र (नेशन) का विचार समुदायों के प्रजातीय लक्षणों से संबंधित है। राष्ट्र का जो विचार ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति और फ्रांसीसी क्रांति के माध्यम से 17वीं और 18वीं शताब्दी में उभरा है वह एक ही प्रजातीय उद्गम, एक ही भाषा, एक ही इतिहास और परंपराओ तथा एक ही पहचान के लिए चेतन जागरूकता से संबद्ध है। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) के उपरांत राज्य-निर्माण हेतु ऐसी भावनाएं आत्मनिर्णय से जुड़ी थीं।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता मूलतः एक होने की भावना से संबंध रखते हैं। राज्य, एकजुटता की भावना के समरूप हो भी सकता है और नहीं भी। राज्यों के प्रति यूरोप के अनुभव ने 'राष्ट्र-राज्य' के विचार पर बल दिया। यह ऐसी स्थिति है जिसमें राज्य एक राष्ट्र भी है। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब पूर्व औपनिवेशिक राज्यों को स्वतंत्रता मिली तब 'राष्ट्र-राज्य' उनके लिए वांछित लक्ष्य था। लेकिन विचार की दृष्टि से हमें राज्य और राष्ट्र के बीच अंतर को समझना चाहिए। राज्य एक राजनीतिक और वैधानिक वास्तविकता है। राष्ट्र, मुख्यतः मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक एकता को संबोधित है। यह लोगों के एक वर्ग की गहरी मौलिक पहचान और अभिवृत्ति से जुड़ा है। राष्ट्र एक समझ, संवाद, संचार और विश्वास का समुदाय है। राज्य भू-भाग से जुड़ता है जबकि राष्ट्र लोगों की चेतना और आशाओं के सामाजिक पक्ष से संबद्ध है।

एक राज्य में विशिष्ट पहचान वाले कई समूह हो सकते हैं, जैसा कि एक देश में होते हैं। ब्रिटेन में, आयरिश, वेल्श और अंग्रेज पहचान के लोग रहते हैं। वास्तव में बहुत-से समकालीन राज्य बहु-प्रजातीय हैं। इस दृष्टिकोण से जापान और कोरिया जैसे कम ही देश हैं जहां एक ही प्रजाति है।

ऐसे भी उदाहरण हैं जहां राष्ट्रीयता कई राज्यों में फैली हुई है। जर्मन केवल जर्मनी में ही नहीं बसते। इसी प्रकार, राज्य और राष्ट्र का कार्यकाल एकसमान नही होता। जैसा कि हमने देखा कि राज्य सदैव एक राष्ट्र का गठन नहीं करते। इसी प्रकार, लोगों का समूह स्वयं को राष्ट्र मान सकता है चाहे उनका कोई राज्य हो या न हो।

राष्ट्र और राष्ट्र-निर्माण

सुदृढ एकीकरण की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका सुनिश्चित है, परंतु यह अनेक एजेंसियो मे से एक ही है, जो इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'एक राष्ट्र एक राज्य' का विचार बहुत समय तक प्रबल रहा लेकिन कई राज्य वस्तुतः बहु-राष्ट्रीय और बहु-सांस्कृतिक हैं। स्विट्जरलैंड और भारत इस प्रकार की बहुस्तरीय अनेकता के ज्वलंत उदाहरण हैं जिनमें संस्कृति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीय इतिहास के अनेक पक्ष हैं। श्रीलंका की जनसंख्या में सिंहली, तमिल और अन्य लोग सम्मिलित हैं। नाईजीरिया में 200 से अधिक प्रजातीय समूह रहते हैं।

राष्ट्र, राज्य के क्रियाकलापो के लिए मूल्यों एवं सांस्कृतिक ताने-बाने की व्यवस्था उपलब्ध कराते हैं। एक राष्ट्र के निश्चित भू-भाग में रहने वाले लोग विशेष सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई पक्षो में भागीदार हो सकते हैं, जो क्षेत्र-विशेष तक सीमित हैं। वे ऐसा अनुभव कर सकते हैं कि वे एक समूह-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं और अन्य समूहों से भिन्न हैं। वास्तव में, अनेकता से परिपूर्ण समाजों में जिनका हमने पहले वर्णन किया है, ऐसे समूह अवश्य होते हैं। कुछ समूहों को अपनी संस्कृति पर गर्व हो सकता है। एक राष्ट्र में समूह-विशेष होने की भावना उप-राष्ट्रीयता कहलाती है। लेकिन कुछ सीमित समूहो और क्षेत्रों के लिए उप-राष्ट्रीयता की भावना मिश्रित वरदान है। कुछ लेखकों का मानना हैं कि यह भावना अपनेपन की भावना का आधार बनती है। भारत में कुछ क्षेत्रों के पिछड़ेपन का कारण प्रायः क्षेत्रीय पहचान का अभाव बताया जाता है। जब तक राष्ट्रीयता के विस्तृत ढांचे में उप-राष्ट्रीयता सीमित रहती है तब तक वह राज्य के क्रियाकलापों मे विघ्न नहीं डालती। एक क्षेत्र अथवा राष्ट्र की जनसंख्या के एक वर्ग की अत्यधिक विशिष्ट पहचान प्रायः राज्य के शांतिपूर्ण क्रियाकलापों के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न करती है।

बहुत-से प्रजातीय राज्यों में इस प्रकार के तनावों के उदाहरण कम नहीं हैं। इंग्लैंड में आयरिश समस्या और श्रीलंका में तमिलों की समस्या इनमें प्रमुख हैं। ऐसी समस्याएं क्षेत्रों के असमान सामाजिक-आर्थिक विकास के तत्वों से बलवती होती हैं। एक प्रजातीय समूह पर दूसरे प्रजातीय समूह के वर्चस्व की भावना, कई राज्यों में अशांति उत्पन्न करने का एक प्रमुख कारक है। जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को एक 'राष्ट्र' के गठन के लिए इकट्ठे रखना, कई राज्यों के लिए एक जटिल कार्य सिद्ध हुआ है।

अन्यान्य संभावनाओं के कारण राष्ट्र का विचार प्रत्येक राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। समाज में एकता की शक्तियों को मजबूत करना और सामाजिक एकजुटता पर बल देना, राज्य की प्रमुख नीति है। इसी कारण भारत में राष्ट्रीय एकता का महत्त्व है।

स्वतंत्रता-पूर्व भारतीय उप-महाद्वीप विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त था जिन्हें राष्ट्रीयता की बलवती भावना से इकट्ठा (एक) किया गया। स्वतंत्रता आंदोलन ने भारतीय राष्ट्र की आधारशिला रखी जिसे उपनिवेशवाद के विरोध से मजबूती मिली। जातिवाद के रूप में एक नकारात्मक शक्ति भी विकसित हुई जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवाद का समर्थन प्राप्त था। स्वतंत्र भारत में सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषाई और आर्थिक आधार पर अनेकता ने राष्ट्रीय एकता के लिए समस्याएं पैदा की हैं। समाज का जातीय आधार पर बंटवारा एक अन्य समस्या है। जनजातीय आबादी अपनी अलग पहचान मांगती है। इनमें से कई कारक प्रायः कुछ निश्चित क्षेत्रों में मजबूत क्षेत्रीय भावना पैदा करने में एकसाथ जुट गए। कुछ क्षेत्रों में 'धरती पुत्र' का नारा 'बाहर वालों' और 'वहां वालों' के बीच अंतर रखने को लगाया जा रहा है। ऐसी बहुमुखी समस्याओ के समक्ष राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए रखना सरल नहीं है। राष्ट्रीय कार्य सूची में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

राज्य और नागरिक

जनसख्या, राज्य के विभिन्न तत्त्वों में से एक है। राज्य की सत्ता और कानून, इसके जनता के साथ संबधों के कारण ही सार्थक होते हैं। यह संबंध उस भू-भाग मे रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करते हैं जहां तक राज्य की सत्ता सर्वोपरि है। समाज में सत्तामूलक संबधों के अन्य कई स्तर हैं, लेकिन ये सभी राज्य सत्ता में अंतर्निहित हैं। आधुनिक समय मे राज्य और लोगों के बीच संबंध भी निरंतर बढ़ रहे हैं। लोग, केवल कानून व्यवस्था और सुरक्षा के लिए ही राज्य पर निर्भर नहीं करते अपितु डाक-तार सेवा, संचार, रेलवे, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी सुविधाए भी राज्य प्रदान करता है। जनता और राज्य के बीच के संबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

एक राज्य के भू-भाग में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति, उसका नागरिक नहीं होता। नागरिकता कानून व नियमों के अनुसार प्राप्त की जाती है। उदाहरण के लिए, प्राकृतिक नागरिकता उन सबको प्रदान की जाती है, जिनके माता-पिता पहले से ही नागरिक हों। कुछ राज्य अपने क्षेत्र में पैदा होने वालों को अपना नागरिक मानते हैं जबकि उनके माता-पिता वहां के नागरिक नहीं होते। इसके अतिरिक्त किसी राज्य की नागरिकता के लिए कोई भी आवेदन कर सकता है जिसे राज्य अपनी इच्छा से प्रदान करता है।

हर राज्य में जनसंख्या का एक भाग ऐसा अवश्य होता है जो उसके नागरिक नही होते। कभी-कभी यह भाग बहुत बड़ा होता है। दूसरे देशों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विभिन्न देशों के प्रवासी भी उस राज्य के नागरिक नहीं होते जो वहां अस्थायी रूप से रह रहे हैं। राज्य क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक नागरिक और बाहरी लोगों को राज्य से कुछ अपेक्षाएं होती हैं, जैसे सुरक्षा। लेकिन नागरिक राज्य से अन्य कई सुविधाएं मांग सकते हैं। ऐसे मामलो में जब नागरिकों को लगता है कि उन्हें निश्चित किए गए अधिकार प्रदान नही किए जा रहे तो वे न्याय के लिए न्यायालय के पास जा सकते हैं। सभी अधिकार एक प्रकार के नहीं होते और उनकी वैधता में भी असमानता होती है। कुछ अधिकार ऐसे होते हैं जिन्हें नागरिकों को न दिए जाने पर न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है (जैसे भारत मे मौलिक अधिकार)। कुछ अधिकार आदर्शो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका राज्य, कानून बनाते और निर्णय लेते समय तो ध्यान रखते हैं, परंतु नागरिक जिनकी माग न्यायालय से नहीं कर सकते (जैसे भारत के संविधान में सम्मिलित नीति निदेशक सिद्धांतों के अंतर्गत प्रदत्त अधिकार)। इन दो प्रकार के अधिकारो को क्रमशः वाद-योग्य और वाद-अयोग्य कहते हैं। भारतीय संविधान में इन दो प्रकार के प्रावधानों के स्वरुप में अंतर हैं। नागरिको के मौलिक अधिकार वाद-योग्य हैं। नीति निदेशक सिद्धांत द्वारा प्रदत्त अधिकार दिशा-निर्देश के रूप मे है जिन्हें व्यवहार में लाने का राज्य को प्रयास करना चाहिए। राज्य, कौन-से अधिकारो की किस हद तक गारंटी देता है– यह कई कारको पर निर्भर करता है। संविधान निर्माण के समय कुछ आदर्शो के लिए प्रतिबद्धता इतनी सशक्त होती है कि कुछ अधिकार अधिक महत्त्व पा जाते हैं। उदाहरण के लिए, समानता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक

स्वतंत्रता का अधिकार एवं संवैधानिक उपचार का अधिकार, मौलिक अधिकारो के रूप में संविधान निर्माताओं की प्रतिबद्धता की ओर इंगित करते हैं। कुछ ऐसे अधिकार भी हैं (जैसे, रोजगार या काम का अधिकार) जिनके प्रति विभिन्न कारणो से राज्य तुरंत गारंटी देने की स्थिति में नही हैं। (इसका कारण है संसाधनों की कमी तथा राजनीतिक नेताओं और दलो के बीच असहमति)। अतः उन्हें वाद-अयोग्य अधिकारो में रखा गया, क्योंकि इनके लिए प्रतिबद्धता भी मजबूत थी। नीति निदेशक सिद्धांत के कई प्रावधान इसी प्रकृति के हैं।

ऐसे कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारण भी हैं जिनके लिए कुछ विशेष अधिकारों को एक विशेष सूची में सम्मिलित किया गया। इन अधिकारों की प्रकृति कैसी भी हो परंतु ये नागरिकों के लिए कुछ कर्तव्य भी निश्चित करते हैं। कुछ कर्तव्य तो अधिकारों के दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, जीने के अधिकार के साथ यह कर्तव्य अंतर्निहित है कि यह अधिकार दूसरों को नकारा न जाए। दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन न करना, एक कर्तव्य है। राज्य के प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं। नागरिकों को ये कर्तव्य, राज्य को अपने कार्य करने देने के लिए, निभाने पड़ते हैं। टैक्स देना भी नागरिको का एक कर्तव्य है। अधिकार और कर्तव्य, राज्य और नागरिको के बीच संबधों को परिभाषित करते हैं।

नागरिकता का एक अन्य पक्ष जिसकी चर्चा आवश्यक है, वह है भागीदारी। नागरिकों से राज्य के कार्यो में भाग लेने की अपेक्षा की जाती है। इस संदर्भ में ही नागरिक और 'प्रजा' में भेद किया जाता है। लोकतांत्रिक राज्यों के स्वरूप से पूर्व, पूर्ण राजतंत्र में, लोग, जो उसके कानून के अंतर्गत आते थे, प्रजा कहलाते थे। वे राज्य के निर्णयों से प्रभावित तो होते थे परंतु निर्णय करने में उनकी कोई भूमिका नही होती थी। लोकतंत्र में नागरिकता, नागरिको को राज्य के कार्यो में भाग लेने का अधिकार देती है। लोकतंत्रो में वोट (मत) देने का अधिकार एक अनन्य और महत्त्वपूर्ण अधिकार है। यद्यपि प्रत्येक नागरिक राज्य के कार्यो (गतिविधियों) मे समान मात्रा में भाग नही ले सकता। भागीदारी की गुणवत्ता प्रायः लोकतत्र के मूल्यांकन के लिए आवश्यक मानी जाती है।

राज्य के प्रत्येक सिद्धांत की अलग व्याख्या, स्पष्टीकरण और निर्देश है। रूसो अधिकारों की गारंटी को महत्त्व देते हैं। लेकिन राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार आदर्शो एवं अन्य कारकों के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। जे. डब्ल्यू. बर्गीस के अनुसार, आज्ञापालन कानून की गुणवत्ता पर निर्भर करता है जो मूलतः अच्छे होते हैं। 'अच्छे' और 'बुरे' को लेकर कई प्रश्न उभरते हैं। किसके लिए अच्छा? समाज मे विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूह होते हैं और जो एक के लिए अच्छा हो सकता है वह दूसरे के लिए अच्छा नहीं भी हो सकता। समाज में परस्पर विरोधी आर्थिक स्वार्थ होते हैं। लास्की के अनुसार लोगों को 'न्याय की भावना', प्रेरित करती है। न्याय के प्रश्न का समाधान अभी खोजा जाना है। हॉब्स, अपने विस्तृत ढांचे के अनुरूप, कहते हैं कि नागरिक अवज्ञा के परिणाम के भय से आज्ञापालन करते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण होते हुए भी मात्र उन अल्पसंख्यक लोगों के लिए सत्य है जो साधारणतः राज्य की आज्ञा का पालन नहीं करते।

अधिकतर राज्य उन अधिसंख्य लोगों पर निर्भर करते हैं जो स्वभाववश आज्ञापालन करते हैं। लेकिन ऐसी आदत का स्रोत क्या है? किसी भी जनसंख्या में अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जिन्हें प्रश्न करने की बजाय स्वीकार करने की आदत होती है। फिर 'वैधीकरण' की बात आती है वहां लोग सच्चे मन से यह विश्वास करते हैं या उन्हें विश्वास करवा दिया जाता है कि राज्य के पास जो सत्ता है, वह उसके पास होनी ही चाहिए क्योकि राज्य वैध है। यह राज्य गठन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसने कई राजनीतिक विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

राबर्ट ए. डाल के अनुसार वैधता उस स्थिति को कहते हैं जब "वे लोग जो आदेशों के लक्ष्य हैं, यह विश्वास करते हैं कि राज्य की संरचना, कार्यविधि, कार्य, निर्णय, नीतियां, कर्मचारी और अधिकारी सभी न्यायसंगत उपयुक्तता, नैतिक अच्छाई जैसे गुणों से युक्त हैं और उन्हें बाध्यकारी नियम बनाने का अधिकार है।" प्रत्येक राज्य वैधता के उच्च स्तर को प्राप्त करने का सचेत प्रयास करता है।

राज्य के कानून, वैधता के आधार पर ही न्यायसंगत होते हैं। राज्य को कानून क्यों बनाने चाहिए और लोगों को उनका पालन क्यों करना चाहिए? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर इस बात में निहित है कि राज्य वैध है, विधिसम्मत है, इस कारण कानून बना सकता है और वैध सत्ता द्वारा विधिवत निर्मित कानूनों का नागरिकों को पालन करना चाहिए। यह अपेक्षा वैधता की प्रक्रिया में अंतर्निहित है।

हम 'वैध' (विधिसम्मत) और 'कानूनी' इन दोनों में भेद कर सकते हैं। 'कानूनी' अधिक प्रत्यक्ष है क्योंकि इसे निश्चित कानूनों द्वारा परिभाषित किया जाता है, लेकिन 'वैधता' उतनी प्रत्यक्ष प्रक्रिया नहीं है तथा यह लोगों की स्वीकृति की भावना से जुड़ी होती है। वैधता का स्तर, राज्य के कार्यों पर निर्भर होने के कारण, स्थिति के अनुसार बदलता रहता है। कभी-कभी राज्य की वैधता का स्तर ऊंचा होता है तो कभी गिर भी सकता है। कानूनी शब्द का अर्थ सुस्पष्ट एवं निश्चित होता है। प्रत्येक स्थिति में कानून का पालन होना ही चाहिए और इसका पालन न करने वालों के विरुद्ध दंडात्मक कार्यवाही की जा सकती है।

'नागरिकों की सहमति' राज्य सत्ता की अनन्यतम गारंटी है। राज्य, समाज की समस्त गतिविधियों और पक्षो को न तो अपने में समाविष्ट कर सकता है और न ही उसे ऐसा करना चाहिए। राज्य सत्ता की सीमाएं क्या हैं? व्यक्ति और समाज के कौन-से क्रियाकलाप राज्य को अपनाने चाहिए? इस संबंध में व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की विचारधारा में परस्पर विरोध है। पहला दृष्टिकोण व्यक्ति को प्राथमिकता देता है और राज्य के कार्यों को सीमित करता है। दूसरे सिद्धांत के अनुसार सामूहिक हित में पूरे समाज का हित अंतर्निहित है और सामूहिक हित में राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिए। इस प्रकार ये दोनों सिद्धांत राज्य और समाज के संबंधों की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करते हैं। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना विकास कार्यक्रमों पर बल देती है और सामाजिक सुविधाओं और सेवाओं के माध्यम से नागरिकों के कल्याण को सुनिश्चित करना चाहती है। यह संकल्पना दोनों सिद्धांतों को एक साथ मिलाती है।

अभ्यास

1. समाज कैसे बनता है? भीड़ और समाज मे भेद कीजिए।
2. समाज और राज्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. राज्य के लक्षण के रूप में 'संप्रभुता' का महत्त्व बताइए।
4. सरकार से क्या अभिप्राय है? यह राज्य से कैसे भिन्न है?
5. ऐसे कौन-से कारक है जो एक राष्ट्र के उदय में सहायक होते हैं।
6. भारत में राष्ट्र निर्माण के महत्त्व को समझाइए।
7. नागरिक और विदेशी में अंतर बताइए।

अध्याय 4

राज्य और संघ

मानव, समाज में विभिन्न प्रयोजनों हेतु विभिन्न समूहों में संगठित होते हैं। इनमें से कई समूह, जैसे परिवार, स्वतः निर्मित हो जाते हैं। कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जैसे क्लब और मजदूर यूनियन आदि, जिनका निर्माण किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, सक्रिय प्रयास द्वारा होता है। इसी प्रकार, कुछ अन्य समूह भी होते हैं जिनके निश्चित, निर्धारित ढाचे होते हैं और जिनके सदस्य अपने समूह के वास्तविक उद्देश्यों से पूर्णतया अवगत होते हैं। ऐसे समूहों के कुछ उदाहरण हैं– गांव, राष्ट्र, मजदूर यूनियन व राजनीतिक दल। इन समूहों का आधार उनके सदस्यों में यह अनुभूति है कि उनके हित सामान्य हैं तथा सदस्यों की एक-दूसरे के प्रति कुछ अपेक्षाएं हैं। सदस्य इस तथ्य से भी अवगत होतें हैं कि उन्हें क्या करना है और क्या करना चाहिए, इन मुद्दों पर सदस्यों में कमोवेश एक आम राय भी होती है।

समाज में कुछ अर्ध-समूह भी पाए जाते हैं जिनका निरूपण ढीले-ढाले रूप में सभी सदस्यों कि लिए समान रूप से नहीं होता। सामाजिक वर्ग, प्रतिष्ठा समूह, आयु व लिंग समूह और भीड़ आदि ऐसी शब्दावलियों के उदाहरण हैं। लेकिन समूहों और अर्ध-समूहों के मध्य कोई सुनिश्चित विभाजन रेखा नही खींची जा सकती। समूह अपना उद्देश्य क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत कर उपयुक्त दिशा मे बढते हैं। सामाजिक वर्ग अपने हित की पूर्ति की दिशा में निश्चित चेतना के साथ आगे बढ़ता है। एक विशेष आयु वर्ग के लोग, विशेषतया युवा वर्ग, निश्चित सुधारों की ओर पहल करते हैं। नारीवादी संगठन अपने विशिष्ट अधिकारों के लिए प्रायः संघर्षरत पाए जाते हैं। कुछ महिला संगठनों ने, दहेज़ जैसी सामाजिक कुरीतियों और महिला अधिकारों के मुद्दों को उठा लिया है। भीड़ को भी एकीकरण की दिशा में प्रेरित किया जा सकता है। अर्ध-समूहों की प्रवृत्ति में आने वाले ये परिवर्तन, बहुधा, स्वतः अथवा अनायास हो जाते हैं। हम संघ का निरूपण लोगों के एक ऐसे संगठित समूह के रूप में कर सकते हैं, जिनका उद्देश्य अपने हितों की पूर्ति करना है।

समुदाय और संघ

समुदाय और संघ में प्रायः भेद किया जाता है। इनके अंतर के संबंध मे सर्वप्रथम एक उत्कृष्ट वक्तव्य 1887 में एफ. टाऊने द्वारा प्रस्तुत किया गया था। सदस्यों के संबंधों की प्रकृति में अंतर जर्मन शब्द 'जीमेनशाफट' (Gemeinshaft) व 'जियलशाफ' (Gesellschaft) के आधार पर किया गया जो क्रमशः समुदाय व संघ को दर्शाते हैं। उनके लक्षणों की विवेचना 'समुदाय' को एक

साथ रहने की प्रवृत्ति की ओर इगित करती है, जहां सभी व्यक्तियों में प्रगाढ़ संबंध होते हैं। इनमें से अधिकांश एक-दूसरे के अंतरंग होते हैं। समूहों के सदस्यों के अनुभव केवल सदस्यों तक ही सीमित रहते हैं। इस दृष्टि से निश्चय ही वे 'निजी' होते हैं। एक संघ अस्तित्व में तब आता है जब उसके सदस्य जान-बूझकर इस दिशा में प्रयास करें। सामुदायिक संबंधों में स्वभावतः व्यक्ति की लगभग सभी गतिविधियां सम्मिलित होती हैं। व्यक्ति प्रायः एक समय में एक ही समुदाय के सदस्य होते है। इस परिप्रेक्ष्य में समुदाय की सदस्यता अति विशिष्ट होती है। व्यक्ति किसी समुदाय की ओर मात्र किसी विशेष आवश्यकता हेतु देखता है; न कि सभी आवश्यकताओं के लिए। एक समुदाय और संघ में मुख्य भेद वह शक्ति है जो लोगों को आपस में जोड़ती है। व्यक्ति की भावनाओं और संवेदनाओं के कारण समुदाय संगठित रहता है। संघ का आधार, सदस्यों द्वारा निर्धारित विवेकसंगत हितों का रामझौता है। लोग संघ के सदस्य स्वेच्छा से बनते हैं। उदाहरण के लिए परिवार और जाति जैसे समुदाय की सदस्यता का आधार जन्म से निर्धारित होता है। किसी का जन्म किसी परिवार व किसी विशेष जाति में ही होता है। संघ के संदर्भ में सदस्यता ऐच्छिक होती है, यह थोपी नहीं जाती। सदस्य जब चाहें तब संघ से अपनी सदस्यता वापस ले सकते हैं। राजनीतिक दल एक संघ है जिसका सदस्य व्यक्ति जब चाहे तब बन सकता है और जब चाहे तब उसकी सदस्यता छोड़ सकता है।

कई ऐसे उदाहरण होते हैं जब दोनो ही समुदाय और संघ एक-दूसरे के कार्यो व विधियों को अंगीकार कर लेते हैं। जाति में समुदाय के लक्षण होते हैं लेकिन विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह जाति-संघ के रूप में भी संगठित हो सकती है। भारत मे कई ऐसे संघ शैक्षिक संस्थाओं व सरकारी सेवाओं मे स्थान आरक्षण की मांग करते आ रहे हैं। संघ और संगठन, जैसे राजनीतिक दल, अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समुदायों का भरपूर उपयोग करते हैं। कई ऐसे राजनीतिक दल हैं जो परिवार, वंश, जाति और धर्म जैसे कारकों को प्राथमिकता प्रदान करते हैं।

जब कोई संघ किसी प्रकार की सामुदायिक अनुभूति या एहसास का समर्थन प्राप्त कर लेता है तो वह संघ कुछ विशेष प्रकार के लोगों के समूह को स्वीकार्य हो जाता है। इससे दीर्घ स्थायित्व प्राप्त होता है। जब कोई समुदाय, संघ का रूप धारण कर लेता है, तो उसे संगठनात्मक लाभ मिलता है और वह अपने लिए विशेष सुविधाएं प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है, तब मोलभाव के या सौदेबाजी के अवसर अधिक बढ़ जाते हैं।

आइए, एक उदाहरण लें। जाति में समुदाय के लक्षण होते हैं। जब किसी राजनीतिक दल को किसी एक जाति अथवा किन्हीं जातीय गठबंधनों का समर्थन प्राप्त हो जाता है, तो वह दल अधिक स्थायी होने लगता है। जब किसी जाति अथवा जाति-समूह के किसी राजनीतिक दल के साथ नियमित रूप से संगठनात्मक संपर्क बढ़ जाता हैं, तो वह समूह अपने लिए विशेष सुविधाएं प्रभावकारी ढंग से प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

व्यक्तियों के जुड़ने और सहयोग करने के कई स्तर हैं। परिवार एक बुनियादी इकाई है जो सार्वभौम है। यह सभी समाजों तथा उनके विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। परिवार, एक

संस्था से अधिक तथा सम्पूर्ण समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह बच्चो, वृद्धो तथा विकलागों को संरक्षण प्रदान करता है। भारत मे संयुक्त परिवार इस दृष्टिकोण को सपुष्ट करता हैं। ऐसा सामूहिक जीवन निश्चय ही परस्पर सहायता एवं सहयोग की अनुभूति में अभिवृद्धि करता है। परिवार के बड़ों के आदेशों का पालन करते हुए बच्चा निजी हित की संकीर्ण भावना से ऊपर उठता है तथा व्यापक रूप में सोचने और कार्य करने को प्रवृत्त होता है। पारिवारिक वातावरण व्यक्ति के चरित्र निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। मनोवैज्ञानिकों के कई अध्ययनों ने सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति की बुनियादी विशेषताओं का निर्धारण बचपन की प्रारंभिक अनुभूतियों द्वारा ही होता है।

परिवार में पलते और बढते हुए बच्चे को सत्ता का प्रथम अनुभव माता-पिता अथवा दादा-दादी से होता है। उसे बतलाया जाता है कि उसे क्या करना है और क्या नही करना तथा उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। बच्चे को आज्ञापालन सिखाया जाता है तथा आज्ञापालन न करने पर उसे दंड का भागी भी बनना पडता है। परिवार बच्चो का व्यक्तिगत तथा सामाजिक मूल्य प्रदान करने का कार्य करता है। व्यक्ति के बुनियादी मानकों मे एक है आज्ञापालन का आधार। सत्ता का पालन क्यों होना चाहिए और आज्ञा उल्लंघन के परिणामों की अनुभूति परिवार के सत्ताधारी लोगों द्वारा ही करवाई जाती है।

समाजीकरण की इन सामान्य प्रक्रियाओं के अतिरिक्ति,परिवार से राजनीतिक व्यवस्था के संबध में भी विशिष्ट जानकारियां प्राप्त होती हैं। व्यक्ति के राजनीतिक दृष्टिकोणों और अभिमतों के निर्धारण मे परिवार मे होने वाली आकस्मिक और विस्तृत चर्चाओं का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, जब देश मे आम चुनाव होते हैं तो चुनाव से संबद्ध विभिन्न मुद्दों पर परिवार में बहस व विवेचन होता है। इन चर्चाओं के दौरान प्रत्याशियो और राजनीतिक दलों के गुण-दोषों पर भी विचारों का मंथन होता है। चुनाव आचरण पर होने वाले अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि परिवार का महत्त्व इस दिशा में अति प्रभावकारी है।

व्यापक सामुदायिक सोच जैसे जाति, वंश और धर्म व्यक्ति के सघ के एक और स्तर का निर्माण करते हैं। ये बुनियादी कारक व्यक्ति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं और अंततः कई सघो के निर्माण का आधार बनते हैं। आधुनिकीकरण की शक्तियां, इन कारकों को नष्ट करने में लगी हुई हैं, तथापि कई अवसर ऐसे होते हैं जब ये संघ राजनीतिक एवं अन्य लाभो का आधार बनाए जाते हैं। भारतीय समाज मे जाति एक महत्त्वपूर्ण संस्था है, जिसके ढांचे में व्यापक परिवर्तन भी हुए है लेकिन साथ ही साथ, आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं, जैसे विशाल संचार माध्यम, अधिकाधिक शैक्षिक अवसर व लोकतांत्रिक राजनीति, जाति विशेष के लोगों के समूह को काफ़ी निकट ले आई है। कई जाति समूह अधिक शक्ति के साथ सुसंगठित समूह के रूप मे कार्य करते हैं तथा सामूहिक हित की दिशा में सोचते है। यही तथ्य धर्म के सबध में भी सही है, जो सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं के संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। आधुनिकीकरण के प्रभाव के अंतर्गत सामाजिक संस्थाएं, जैसे जाति और धर्म, अनिवार्यतः प्रभावहीन

नहीं हो जातीं। समाज पर आधुनिकीकरण का प्रभाव अत्यधिक जटिलतापूर्ण होता है। एक तरफ, आधुनिकीकरण परस्पर विरोधी समूहों को एक-दूसरे के बहुत ही नजदीक लाता है जहां अत्यधिक समरूपता होती है। दूसरी ओर, आधुनिकीकरण विशेष समूहों के सदस्यों को नजदीक आने को प्रोत्साहित करता है तथा एक अनन्य समूह की अनुभूति करवाता है।

संघों के प्रकार तथा आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था

कई संघ ऐसे होते हैं जिनकी स्थापना व्यक्ति अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। संगीतप्रेमी संगीत क्लबों के सदस्य बन जाते हैं। विचारधाराओं में प्राथमिकताओं से संबद्ध लोग राजनीतिक समूहों के सदस्य बनते हैं। विशेष पेशो से संबंद्ध लोग पेशेवर समूहो का गठन कर लेते हैं, तथा समाज सेवा के इच्छुक लोग अपने समूह बना लेते हैं। किसी भी समाज में ऐसे समूहो की संख्या अनगिनत होगी। व्यक्तियों के हित भी कई प्रकार के होते हैं। ऐसे सभी स्वैच्छिक संघों में एक लक्षण सामान्यतः पाया जाता है, और वह है उनकी सदस्यता का ऐच्छिक होना। व्यक्ति चाहे तो उनका सदस्य बने और न चाहे तो न बने।

राज्य को भी एक ऐसे संघ के रूप में देखा जा सकता है, जिसका उद्देश्य राजनीतिक लक्ष्यों का निष्पादन है, जैसा कि राज्य की उत्पत्ति से संबद्ध सामाजिक समझौते के सिद्धांत का अभिमत था। लेकिन अपने सीमा क्षेत्र में राज्य का क्षेत्राधिकार अत्यंत व्यापक होता है। राज्य के सीमा क्षेत्र में निवास करने वाले सभी लोग अनिवार्यतः उसके सदस्य होते है। एक व्यक्ति एक ही साथ कई संघों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है जबकि नागरिकता साधारणतः एक राज्य तक सीमित रहती है। राज्य का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक होता है। संघों के विषय क्षेत्र सदैव सीमित होते हैं। वास्तव में, राज्य विभिन्न संघो की गतिविधियों को समन्वित करता है। राज्य प्रायः 'सर्वोच्च संघ' की भूमिका का निर्वाह करता है और समाज के अन्य संघों की गतिविधियो पर नजर रखता है।

संघों का निर्माण विभिन्न उद्देश्यो के लिए होता है और वे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः हम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, मनोरंजक और पेशेवर प्रकार के संघ देखते हैं। कुछ ऐसे संघ भी होते हैं जिनकी स्थापना की पहल 'राज्य' जैसी शक्तिशाली संस्थाएं करती है ताकि सामान्य अथवा विशेष मुद्दों पर लोकमत तैयार किया जा सके। कुछ संघों की प्रतिबद्धता किसी विचारधारा विशेष के प्रति हो सकती है, जो लोगों को समझा-बुझाकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते हैं और उनका समर्थन प्राप्त करते है। राजनीतिक दल लोगों के समक्ष कार्यक्रम प्रस्तुत करके उनकी स्वीकृति प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। कुछ ऐसे संघ भी होते हैं जो मुख्यतः कल्याणकारी गतिविधियों से संबद्ध रहते हैं। विकलांग लोगों के लिए रेड क्रास सोसायटी, अंधापन निवारण समाज, पशुओं के विरुद्ध अत्याचार निवारण समाज, इत्यादि कुछ जनकल्याणकारी संगठनों के उदाहरण हैं।

समान हितों वाले लोग भी कुछ संघों का निर्माण करते हैं, जो **हित समूह** बन जाते हैं। ऐसे समूह व्यक्तियों के किन्ही विशिष्ट हितों का

प्रतिनिधित्व करते हैं। वे समुदाय पर, भाषा पर, व्यवसाय हित पर आधारित हो सकते हैं। विशेष व्यवसायों के भी ऐसे उदाहरण हैं जहां हित समूह अपने सदस्यों की ओर से नीति-निर्माण तथा सरकारी प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। जब कोई समूह अपने सदस्यों के पक्ष में सरकारी अथवा संगठनात्मक निकायों पर प्रभाव डालकर अपने विशेष हितों की पूर्ति करता है तो ऐसे समूह को **दबाव समूह** के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः सांस्कृतिक, मनोरंजक तथा कल्याण समूह भी कभी-कभी दबाव समूहों के समान कार्य कर सकतें हैं।

राजनीतिक दलों के अपने-अपने उद्देश्य होते हैं। दल जहां अपने राजनीतिक कार्यक्रमों के आधार पर राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति में प्रयासशील रहते हैं, वहां हित समूहों तथा दबाव समूहों का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित ही बना रहता है। हित व दबाव समूह शासन में प्रत्यक्षतः पद प्राप्ति के आकांक्षी नहीं होते। उनकी विचारात्मक प्राथमिकताएं हो सकती हैं और होती भी हैं, लेकिन इस आधार पर वे शक्ति प्राप्ति का प्रयास नहीं करते। राजनीतिक दल लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अंग होते हैं और सरकारी पद की प्राप्ति के लिए चुनावी समर्थन की अपेक्षा करते हैं। हित व दबाव समूह परदे के पीछे से कार्य करते हैं और लोकतांत्रिक प्रक्रिया के धरातल के नीचे कार्यरत रहते हैं। साधारणतया उनकी गतिविधियां सरकार पर दबाव डालने में लगी रहती हैं ताकि उनके सदस्यों को अधिकाधिक लाभ मिल सके। सरकारी संस्थाओं की कार्यविधि को वे प्रत्यक्षतः प्रभावित कर सकते हैं, जैसे विधायिका अथवा नौकरशाही से संबद्ध लोगों को, जो सत्ता से जुड़े हैं। कुछ ऐसे समूह भी होते हैं जो अपनी गतिविधियों का निर्धारण सरकार पर दबाव डालने तक ही सीमित रखते हैं। सरकारी निर्णयों पर दबाव डालने के अतिरिक्त कुछ समूहों की अन्य गतिविधियां भी हो सकती हैं। वाणिज्य और उद्योग 'फिक्की' यानी भारतीय वाणिज्य और उद्योग प्रकोष्ठ परिसंघ, ऐसे समूहों का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

आधुनिक युग में कुछ विशिष्ट समूहों का महत्त्व बढ़ गया है, जिसके फलस्वरूप उनकी संख्या में भी वृद्धि हुई है। संचार साधनो में तेजी से वृद्धि हो जाने के कारण लोगों के मध्य संपर्क के क्षेत्र में बहुत फैलाव आया है। अब यह नगर-राज्य अथवा सुदूर भारतीय ग्राम के साधारण संघ तक सीमित नहीं रहा। आज के अधिकांश संपर्कों की प्रकृति, विशिष्ट स्थिति के संदर्भ में पूर्ण नहीं, अपितु आंशिक है। शहरी केंद्रों के विकास से इन आंशिक तथा अस्थायी संपर्कों में मदद मिली है। अन्य विकास की प्रक्रियाएं, जैसे शिक्षा के फलस्वरूप शहरी लोगों में अपने क्रमिक हितों के प्रति बढ़ती चेतना की प्रवृत्ति ने अपरिचित लोगों को भी एक साथ बांध दिया है। आधुनिक समाज में रहने वाले लोगों की जीवन-शैली में जबरदस्त तेज़ी आई है जो यंत्रवत होती जा रही हैं। संघ व्यक्तियों को पारस्परिक क्रिया करने का अवसर प्रदान करते हैं। क्योंकि व्यक्ति किसी संघ में सामान्यहित के उद्देश्य से सम्मिलित होते है, इसलिए वे अंतरंग सामाजिक समूह का भी निर्माण करते हैं जिसके कारण उनमें प्रगाढ़ संबद्धता की अनुभूति भी पाई जाती है। संघों की गतिविधियां सदस्यों की अपेक्षाओ से जुड़ी होती है, जिन्हें वें पूरा करना चाहते है। आधुनिक औद्यौगिक समाज में व्यक्ति जब अपने को अलग-थलग महसूस करने लगता है, तो ये

संघ व्यक्ति को आत्म-अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करते है।

आधुनिक राज्य की शक्ति तथा विषय क्षेत्र मे वृद्धि के चलते बिचौलिए हित समूहों का महत्त्व बढ गया है। यद्यपि लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने नागरिकों को व्यक्तिगत महत्त्व प्रदान किया है तथापि आधुनिक दैत्याकार राज्य से वे आतंकित तो रहते ही हैं। एक शक्तिशाली राज्य के समक्ष नागरिक, अपने को प्रायः असहाय पाते हैं। अपने बुनियादी हितों को ध्यान में रखते हुए लोग स्वयं को संगठित कर राज्य का सामना सामूहिक तौर पर करते हैं। राज्य की शक्ति के केंद्रीकरण के बढ़ते परिप्रेक्ष्य में संगठित समूह प्रायः लोगों की सहायता करते हैं। विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठित समूह चाहे वे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, विचारधारात्मक आदि हो, व्यक्ति की अपेक्षा राज्य का सामना अधिक प्रभावशाली रूप में करते हैं। ऐसे कई समुदाय होते हैं जो समाज में व्याप्त अन्यायों का विरोध करना आवश्यक समझते हैं। इस प्रयोजन हेतु संगठन निर्माण को वे निश्चय ही उपयोगी समझते हैं। भारत के दलित संगठन इस के उदाहरण हैं। ऐसे समूहों द्वारा सामूहिक हित अधिक प्रभावी रूप से सुरक्षित रहते है। सरकारी निर्णयों में ऐसे समूहों की मांगों को ध्यान में रखा जाता है।

समूह, राज्य सरकार और जनसाधारण के मध्य संपर्क सूत्र के रूप में एक-दूसरे के उद्देश्य की भी पूर्ति करते हैं। समय-समय पर होने वाले चुनावों के द्वारा लोकप्रिय सहभागिता के माध्यम से आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य वैधता प्राप्त करते हैं। नागरिको को अपनी इस सहभागिता का अभिप्राय अवश्य ही समझना चाहिए। उनमें इस अनुभूति का होना जरूरी है कि उनकी सहभागिता अर्थपूर्ण एवं प्रभावकारी है। लोक सहभागिता जैसे, मतदान, के उपक्रम से राज्य प्रत्यक्षतः संबद्ध नहीं होता। हित समूह, व्यक्ति और राज्य के मध्य सपर्क सूत्र के रूप में कार्य करते है। इस प्रकार समूह जनसाधारण की मांगों तथा इच्छाओं को सरकार तक पहुंचाने और लोगों को सरकारी निर्णयों से अवगत कराने का कार्य करते है।

विभिन्न स्तरों पर कार्यरत राज्य और सरकार के लिए मध्यवर्ती या बिचौलिए हित समूह उपयोगी सिद्ध होते हैं। विभिन्न हितों, गतिविधियों, अभिमतों और विचारधाराओ का भी प्रतिनिधित्व करने वाले इन समूहों से संपर्क करने मे तथा राज्य का भी प्रतिनिधित्व करने वाले इन समूहों से बातचीत करने में राज्य को भी आसानी होती है। कई स्तरों पर लोगों के ऐसे समूह हो सकते हैं और होते भी हैं। विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति हेतु ये छोटे-छोटे समूह बड़े समूह के रूप में भी परिणत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, मज़दूर सघों का प्रयोजन विशेष प्रकार के मजदूर समूहों का प्रतिनिधित्व करना व उनके हितों की देखभाल करना है। उद्योगों में ऐसे संघ होते हैं और कहीं-कहीं एक से अधिक भी संघ होते हैं। विभिन्न संघ बडे-बड़े संगठनों का रूप भी धारण कर लेते हैं। ऐटक (AITUC), यानी अखिल भारतीय मज़दूर संघ कांग्रेस, इंटक (INTUC) भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संघ कांग्रेस और भारतीय मज़दूर संघ (BMS) आदि। अखिल भारतीय स्तर के और भी कई संघ है। ये बड़े संघ

भिन्न-भिन्न वैचारिक प्राथमिकताओं से प्रतिबद्ध राजनीतिक दलों से संबद्ध होते हैं। ऐटक, जहां भारत की कम्युनिस्ट पार्टी से सबद्ध है, इंटक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से तथा बीएमएस का भारतीय जनता पार्टी से संबंध है। ये संघ किसी-न-किसी राजनीतिक दल से जुड़े होते हैं। विभिन्न स्तरों पर सम्मिश्रण की यह प्रक्रिया सरकार की कार्यविधि को आसान कर देती है। यदि जनसाधारण की असंख्य मांगों को सरकार के समक्ष प्रत्यक्षतः रख दिया जाए तो उन मांगों का मात्र परिमाण ही सरकारी मशीनरी के बिखराव के लिए पर्याप्त होगा।

भिन्न-भिन्न सामाजिक समूहों की विभिन्न प्रकार की मांगें प्रायः परस्पर विरोधी होती हैं। एक मांग यदि मान ली जाए तो उसका अभिप्राय होगा कि दूसरी माग विचार करने योग्य है ही नहीं। उदाहरण के लिए, मज़दूर यूनियनों की मांगें उद्योग मालिकों की कुछ मांगों से प्रायः परस्पर विरोधी होती हैं। कभी-कभी मांगों मे प्रतिस्पर्धा भी होती है। अतः ऐसी प्रतिस्पर्धी और परस्पर विरोधी मांगों में सामंजस्य स्थापित करते हुए 'छंटाई' करनी होती है तथा उन्हें प्रस्तुत करने के लिए एक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। ये महत्त्वपूर्ण कार्य बिचौलिए हित समूह बखूबी कर लेते हैं तथा डेविड ईस्टन द्वारा कथित सरकारी मशीनरी के 'अतिभार' को समाप्त कर देते हैं। इतनी अधिक प्रतिस्पर्धी और परस्पर विरोधी मांगों पर सरकार के लिए प्रभावी कार्यवाही करना अत्यंत कठिन होता है। बिचौलिए हित समूह के स्तर पर ये मांगे संसाधित हो जाती है और 'परस्पर विरोधी' मांगो की 'छंटाई' भी हो जाती है। और तब उनकी सूची सरकार के निर्णयकारी अनुभागों तक पहुंचाई जाती है। मांगों की संख्या व उनकी जटिलता कम हो जाती है और उनके परस्पर विरोध अंततः दूर हो जाते हैं, जिससे उन मांगों पर विचार किया जा सकता है।

मांगों की अभिव्यक्ति का तरीका तथा उनके संबंध में सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्धारित कार्यव्यवस्था का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विभिन्न प्रयोजनों हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार की सरकारी संस्थाएं होती है। सरकार के तीन प्रमुख अंगों – विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की जानकारी हमें है। उनके अलग-अलग कार्य निर्धारित हैं और उन कार्यो के सुविधाजनक निष्पादन हेतु उनकी अपनी-अपनी कार्य व्यवस्थाएं होती हैं।

सरकार समूहों से अपेक्षा करती है कि वे लोगों को सूचित व शिक्षित करने का कार्य तो करें ही, इसके साथ ही लोगों को सरकारी निर्णयों, उनके तार्किक आधार तथा उनके मूल्यों से भी अवगत कराएं।

भारत जैसे विकासशील देशों में विभिन्न प्रकार के समूहों की विशेष आवश्यकता है। बिचौलिए समूह सार्वजनिक सहभागिता को भिन्न-भिन्न रूपों में अर्थपूर्ण बनाते हैं। इन समाजों में कई प्रकार की विषमताएं व्याप्त हैं जो प्रायः अत्यधिक उग्र भी होती हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था की घोषित 'खुली प्रतियोगिता' अंततः असमान प्रतियोगिता में परिणत हो जाती है। ऐसी अवस्था में, ये समूह और संघ, सामाजिक न्याय के उद्देश्य को पूरा करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

विकासशील देशों में राज्य कई संघों और ऐच्छिक अभिकरणों को अपनी गतिविधियों के

पूरक के रूप में पाते हैं। भारत में सहकारी समितियों को सरकार की ओर से कुछ आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से प्रोत्साहन व सहायता प्रदान की जाती है। चीनी और दूध जैसी कई वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में ऐसी समितियां सहायक सिद्ध हुई हैं। कभी-कभी ऐसे अभिकरण समस्याओं के स्रोत भी बन गए हैं। जब वे शक्ति के स्वतंत्र केंद्र बन जाते हैं तथा सदस्यों की निष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

संघ उपयोगी हैं और समय-समय पर लोकतांत्रिक राज्यों के कार्यसंचालन में पूरक का कार्य करते हैं। लेकिन राज्य के साथ अपने संबंधों के संदर्भ मे वे दुविधा की स्थिति भी उत्पन्न कर देते हैं। इन संघों को कितनी स्वायतता प्राप्त हो? राज्य और संघों, स्वैच्छिक अभिकरणो सहित, के संबंध जटिल मुद्दों को उजागर करते हैं।

निष्ठाओं की उपयुक्त व्यवस्था

संघों और बिचौलिए समूहों में केवल कुछ ही व्यक्ति सदस्य होते हैं और ये केवल उन्हीं की कुछ मांगों का ही ध्यान रखते हैं। अपने सदस्यों के संदर्भ में वे पक्षपाती होते हैं और उनके कुछ ही हितों को आवरण प्रदान करते हैं। वे लोगों के विशिष्ट समूहों के विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्हीं का दायित्व लेते हैं। वे समाज के सभी वर्गों की बात नहीं करते। बहुत से संघ अपने सदस्यों की पहचान और मांगों के प्रबंध तक ही सीमित होते हैं। कुछ ऐसे संघ और समूह हैं जो जाति, धर्म, जनजाति, भाषा और व्यक्तियों की क्षेत्रीय पहचान की भी बात करते हैं।

व्यावसायिक (पेशेवर) संघ और हित समूह भी है। इनकी पहचान मजबूत होती है और लोग उनके प्रति प्रायः आसक्त होते हैं। इन आसक्तियों की जड़ें व्यक्तियों के अस्तित्व में होती हैं जिनसे वे पूर्णतः परिचित होते हैं।

कई ऐसे स्तर होते हैं जहां संघों और समूहों की निष्ठा एक-दूसरे के विरुद्ध होती हैं। निष्ठाओं में यह विरोध सर्वप्रथम स्वयं व्यक्ति के स्तर पर होता है। बहुत हितों से जुड़े हुए व्यक्ति साथ ही साथ अन्य संघों से भी संबंधित होते हैं। एक ही समय में जाति, संघ, क्षेत्रीय आधार पर निर्मित समूह, मनोरंजन क्लब, जन कल्याणकारी संगठन और वैचारिक समूह की भी सदस्यता संभव है। व्यक्तिओं को अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर इन बहु-आयामी निष्ठाओं का प्रबंध करना होता हैं। संघों की प्रकृति, उनके महत्त्व और समाज के लिए उनकी प्रासंगिकता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। अलग-अलग निष्ठाओं में एक-दूसरे से विरोध भी हो सकता है।

संघ और समूह एक-दूसरे के साथ मिलकर बडे संघों और संगठनों की स्थापना करते हैं। हमने इसका उदाहरण ऊपर दिया है कि मज़दूर संघ किस तरह भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले राजनीतिक दलों से संबद्ध होते हैं। समूहों के विभिन्न स्तरो पर विरोधी स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। अपनी कार्यव्यवस्था की सीमाओं और अनिवार्यताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न स्तरो पर समूह अपना कार्य करते हैं। यह ऊपर बताया जा चुका है कि विभिन्न औद्योगिक इकाइयो के मज़दूर संघ बड़े संघ बना लेते हैं जो राजनीतिक

दलो से संबद्ध होते हैं। एकाकी औद्योगिक इकाई के स्तर पर उस इकाई में कार्यरत मजदूरों के हितों को ध्यान में रखना होता है। संघ के स्तर पर विभिन्न इकाइयों की यूनियनों को समन्वित करना पड़ता है। राजनीतिक दल के स्तर पर मजदूर यूनियनो के संघ के हितों और दल से संबद्ध अन्य समूहों और संघो में समन्वय करना आवश्यक है। तीनों स्तरों के विचारो की भिन्नता को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसे-जैसे संघ और संगठनो के कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाते हैं, वैसे-वैस उनके महत्त्वपूर्ण मुद्दों में भी विस्तार होता जाता है। एक दृष्टिकोण से जो सही और स्वीकार्य स्थिति है वह दूसरे स्तर पर भी सही और स्वीकार्य हो, यह जरूरी नही है। विभिन्न स्तरों पर की जाने वाली कार्यवाहियों को एकाकी विवेकशील दृष्टिकोण से क्रमबद्ध करना आसान कार्य नही है। कौन-सा स्तर मुख्य है और कौन-सा गौण? किस स्थिति को दूसरी स्थितियों पर वरीयता दी जाए? ऐसे प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। एक संपूर्ण तर्कसंगत और विवेकपूर्ण व्यवस्था जो सभी को स्वीकार्य हो लगभग असंभव है।

संघों की संयोजित व्यवस्था के लिए किस स्तर को व्यक्ति (सदस्य) प्राथमिक निष्ठा देता है? व्यक्ति के दृष्टिकोण से वह स्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जो उसके अनुभव और अवश्यकता के अनुरूप अधिक महत्त्वपूर्ण हो। लेकिन संगठन की दृष्टि से संघ का उच्चतम स्तर वह है जो संघों की समस्त शृंखलाओं की आवश्यकताओं को इंगित करता है और इसलिए वह प्राथमिक निष्ठा का अधिकारी है।

राज्य के प्रति निष्ठा के विशेष संदर्भ में ऐसे विरोध महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। संपूर्ण समाज का आवरण प्रायः अपने सभी नागरिकों से निडर और अविभाजित निष्ठा की अपेक्षा करता है। राज्य के प्रति सम्पूर्ण निष्ठा उसका आदर्श है और अन्य सभी निष्ठाएं उसके आधीन हैं। लेकिन ऐसे उदाहरण भी हैं जहां अन्य पहचान महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। भारत में ऐसे धार्मिक समूह रहे है जो अपनी धार्मिक पहचान को भी अधिक महत्त्व देते हैं। ऐसी क्षेत्रीय पहचान भी रही हैं जो भारतीय राज्य से ऊपर होने का दावा करती है। कुछ जातीय समाजो ने कभी-कभी पृथक दावों पर बल दिया है।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों में निष्ठाओं के विरोध के ऐसे बहुत-से मामले विशेषतया सच हैं। ये देश बहुत समय तक औपनिवेशिक शासन के आधीन रहे हैं। औपनिवेशिक शासन के कार्यकाल में सरकारों ने विभिन्न आधारों, जैसे वंश, जाति, धर्म और भाषा आदि पर विभाजनों को अत्यधिक महत्त्व दिया। यह उन की कुख्यात नीति – 'फूट डालो और शासन करो' का ही एक अग है। उपनिवेशों में इन विभाजनकारी नीतियों को बल प्रदान करने के क्रमबद्ध प्रयास किए गए। औपनिवेशिक शासन ने इन समाजों को निरंतर अर्ध-विकसित बनाए रखा और आधुनिकीकरण की शक्तियों के अभाव में पारंपरिक संस्थाएं सुरक्षित बनी रहीं।

प्रायः लंबे राष्ट्रीय संघर्ष के बाद, जब ये राज्य अस्तित्व में आए तब उन्हें विभाजनकारी शक्तियों का सामना करना पड़ा। भारत को सांप्रदायिक समस्या का सामना करना पड़ा, जिसका समाधान दशकों तक सुसंगत प्रयास के बावजूद नहीं हो सका है। राज्य लोगों के लिए अपेक्षाकृत नई प्रक्रियाओं और संस्थाओं की सहायता से

लोकतांत्रिक व्यवस्था की प्रस्थापना में प्रयासरत रहे। जहां पारंपरिक संस्थाएं अपने लिए निष्ठाएं प्रस्थापित कर चुकी थीं, वहां लोकतंत्र की नई संस्थाओं और प्रक्रियाओं को अपने लिए निष्ठा प्राप्त करना बाकी था। प्रायः इन प्रक्रियाओं की परिणति पारंपरिक निष्ठाओं के सुदृढ़ीकरण में हुई। स्वतंत्र भारत की चुनावी राजनीति का भारतीय समाज पर ऐसा स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

विभिन्न स्तरों पर कार्यरत विभिन्न संघों की निष्ठाओं में उपयुक्त सामंजस्य बनाए रखने के लिए राज्य की स्थिति निश्चय ही सर्वोपरि होती है। इस दृष्टि से इन संघों की निष्ठा को एक उपयुक्त व्यवस्था में क्रमबद्ध करने की जिम्मेदारी स्वयं इन समूहों की भी है।

संघों की विकासात्मक अवधारणा

समाज और राज्य के लिए संघों को सदैव संपत्ति के रूप में माना जाता रहा है। सामाजिक गतिविधि के कई ऐसे मूल्यवान खंड हैं जिनकी अच्छे ढंग से पूर्ति ऐसे संघों के माध्यम से ही हो सकती है। सार्वभौम रूप से परिचित भारत में कई ऐसे व्यक्तित्व है, जैसे महात्मा गांधी, विनोबा भावे और मदर टेरेसा, जो विभिन्न स्वैच्छिक संघो से संबद्ध रहे हैं। हमें प्रायः यह देखने को मिलता है कि राज्य इन स्वैच्छिक इकाइयो को स्वीकार करने, मदद करने और यहां तक कि उन्हें समर्थन देने तक को उत्सुक रहते हैं।

भारत में स्वैच्छिक संघों का इतिहास 1860 में शुरू हुआ जब गैर-सरकारी संस्थाओं एवं समितियों के पंजीकरण के संबंध में एक व्यापक कानून बना। इसे सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1860 का नाम दिया गया। व्यापक समाज सुधारों और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान स्वैच्छिक संघों ने कई क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जैसे शिक्षा का प्रसार, समाज सुधारों की दिशा में पहल और परोपकारिता आदि। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्वैच्छिक संघों की संख्या और उनके कार्यक्षेत्र मे व्यापक रूप से वृद्धि हुई है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदानों के साथ-साथ इन संस्थाओं ने कमोवेश राज्य द्वारा स्वीकृत और राजनीतिक संस्थाओं के प्रचलित प्रबंध के अनुरूप कार्य किया। जहां ब्रिटिश शासन के दौरान 1860 के कानून ने उनके आकार और कार्यो को निर्धारित किया, वहीं राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक विचारधारा ने कई संस्थाओं को जन्म दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रचलित क्षेत्र और विकासात्मक कार्यक्रमों ने स्वैच्छिक संस्थाओं के संगठन और कार्यों को सम्मिलित कर लिया। 1970 के दशक तक राजनीतिक संस्थाओं और विकासात्मक कार्यक्रमों, दोनो ने ही प्रक्रियाओं को एक सामान्य संदेहवाद के दायरे में ला खड़ा किया। वैकल्पिक विकास और धरातलीय स्तर पर उमड़ने वाली नई तरह की इकाइयों पर कुछ सोच-विचार किया गया।

राज्य और सरकार की संस्थाएं अनिवार्यतः राजनीति की उन प्रक्रियाओं से बनी होती हैं जो पूर्णतया समाज में सत्ता के लिए संघर्ष से संबद्ध होती हैं। ऐसे सत्ता के लिए संघर्षों के अपने तर्क होते हैं और वे जिन प्रक्रियाओं को अपनाते हैं वे सदैव राज्य और सरकार के अभिकरणों के कार्य करने में उपयोगी हों, यह जरूरी नहीं है। वे सभी लोगों के लिए भी सदैव लाभप्रद नहीं होते।

चुनावों का उदाहरण एक बार फिर लेते हैं। राजनीतिक दल और नेता व्यक्तिगत रूप से चुनाव लड़ते हैं जो उन्हे सरकार मे पद प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। चुनावों में विजय प्राप्त करना, राजनीतिक दलों और नेताओं का प्राथमिक ध्येय बन जाता है। सरकार में होते हुए, वे इस दृष्टि से कि सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर उन निर्णयों का क्या प्रभाव पड़ेगा, निर्णय लेते हैं। निर्णयों के उपयुक्त न होने की स्थिति में निर्णय लेने वाली संस्थाओं और निर्णयों को लागू करने वाले, दोनों ही अभिकरणों को दुविधा का सामना करना पड़ता है। जिस निर्णय से लोगों को लाभ होने की अपेक्षा हो, वह उनके लिए अलाभकर भी हो जाता है। सत्ता प्राप्ति राजनीतिक प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य बन जाता है। इस प्रक्रिया में असमान समाज उन नेताओं का चयन और निर्वाचन करता है जो मुख्यता समाज के उच्च वर्ग से संबद्ध होते हैं। यही कारण है जिसके फलस्वरूप राजनीतिक संस्थाएं अपना वह महत्त्व खो चुकी हैं जो आरंभ के वर्षो में था। उदाहरण के लिए, कांग्रेस दल जिसने स्वतंत्रता संग्राम मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीति और सरकार मे केंद्रीय स्थान पर बना रहा। परंतु बाद के वर्षो में उसे ह्रास का सामना करना पड़ा।

बहुत-से लोगों का यह कहना हैं कि विकास के जो कार्यक्रम होते हैं, यहां तक कि कार्यक्रमों के पीछे जो बुनियादी विचार और धारणाएं होती हैं, पुरानी समस्याओं के समाधान की कोशिश में नई समस्याओ का निर्माण कर देती हैं। इन नई समस्याओं में बहुत-सी समस्याओं की प्रकृति गंभीर होती है जो सामाजिक और आर्थिक कल्याण के लिए प्रायः संकट उत्पन्न करती हैं। वास्तव में, आधुनिक राजनीति की प्रकृति, रूपरेखा और विकास के कार्यक्रम, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, एक दूसरे को मजबूती और सहयोग प्रदान करते हैं। सत्ता के लिए संघर्ष राजनीति की प्रमुख प्रक्रिया है और विकास के कार्यक्रम समाज के सभी वर्गो को एक समान लाभ नही पहुंचाते। राजनीति की प्रक्रिया और विकास कार्यक्रम की रूपरेखा, दोनों पर ही प्रश्न-चिह्न लगाए गए है। आधुनिक राजनीति की प्रकृति और विकास के प्रचलित आदर्श रूप एक-दूसरे को सुदृढ़ बनाते हैं। 'राजनीति का नमूना' तथा 'विकास का नमूना' दोनो के संबंध मे की गई आलोचना की पृष्ठभूमि यह संकेत देती है कि लोगो को एक वृहद् उद्देश्य तथा कुछ विशिष्ट मुद्दों के लिए संगठित करना नितांत आवश्यक है। इनमें से बहुत-से आंदोलन अनायास खड़े हो जाते हैं और औपचारिक संगठन का उनमें अभाव होता है। ये, शांति के लिए परमाणु अस्त्र-विरोधी हो सकते हैं, पर्यावरण संरक्षण आंदोलन अथवा निश्चित वर्गो के लिए, जैसे महिलाओं के लिए विशेष अधिकारों की मांग जैसे मुद्दो को लेकर हो सकते हैं। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र में शुरु हुआ 'चिपको आंदोलन' ऐसे आंदोलनों का एक अच्छा उदाहरण है जिसका उद्देश्य प्राथमिक तौर पर पहाड़ों में पेड़ो के संरक्षण तथा पर्यावरण संतुलन को कायम रखना था। 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' भी एक ऐसा ही आंदोलन है जिसका उद्देश्य नर्मदा बांध के बनने के परिणामस्वरूप विस्थापित होने वाले जनजातीय लोगों की सहायता करना है। ऐसे संघों की एक विशेषता यह होती है कि ये दूसरे समूहों के समान पद और सत्ता प्राप्ति

की प्रतियोगिता मे सम्मिलित नहीं होते, हालाकि वे सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित अवश्य करना चाहते हैं। वे 'सत्ता संघर्ष' के बाहर होते हैं। शांति-आदोलन, नारी-आंदोलन, पर्यावरण की समस्या से संबद्ध आदोलन, ऐसे ही आंदोलनो के उदाहरण हैं। एक दूसरा क्षेत्र, जिस पर अधिक बल दिया जा रहा है, वह है मानवाधिकारो का परिरक्षण।

ऐसा वैकल्पिक विचार सामाजिक समस्याओ जैसे निर्धनता को सामाजिक संरचना में अतर्निहित दोषों के संदर्भ में देखता है। इसलिए, जब विकास कार्य होता है तब भी उसी परिणामस्वरूप निर्धनता में कमी नही हो पाती। वास्तव में, हम देखते हैं कि विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ समस्याएं तीव्रतर होती गई हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात पर बल देने की है कि जो समूह उनसे प्रत्यक्षतः कुप्रभावित होते हैं, उन्हे इकट्ठा किया जाए, जैसे दलित, जनजातियां, निर्धन, महिलाएं तथा पर्यावरणीय दृष्टि से त्रस्त भाग आदि। ये संस्थाएं निरंतर नई समस्याएं उजागर करती हैं तथा कार्यवाही के लिए नए समूहो को लामबद करती हैं। ये अपने उद्देश्यों, संगठन और कार्यव्यवस्था की दृष्टि से दूसरे समूहों से भिन्न होती हैं।

एक दूसरा क्षेत्र जहां स्वैच्छिक संस्थाए सक्रिय हुई हैं, वह है विकास कार्यक्रमों का निष्पादन। विकास कार्यक्रमों का निर्धारण राज्य द्वारा होता है और इनका कार्यान्वयन सरकारी अभिकरणों, मुख्यतया अफ़सरशाही अथवा नौकरशाही द्वारा किया जाता है। विकासकारी कार्यो के अनुपालन में इन संस्थाओं की कमियां प्रायः पाई जाती हैं। ये कार्य भी राज्य के अन्य कार्यों के समान ही समझे जाते हैं और इनका निपटारा भी 'नेमी' तरीके से होता है। नौकरशाही की कार्यशैली के अपने तौर-तरीके होते हैं जहां नियमों और विनियमों का पालन कठोर तरीके से होता है। उसमे लचीलापन नहीं होता। राज्य की नौकरशाही का व्यवहार विकास कार्यो के संबंध में सदैव सहायक नहीं होता। प्रायः यह शिकायत की जाती है कि कार्यान्वयन करने वाला अभिकरण राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा बन जाता है जिसकी विवेचना हमने ऊपर की है।

विकास कार्यक्रम के अनुपालन के इस अनुभव के प्रकाश में यह माग जोर पकडती जा रही है कि इनमें से कुछ कार्य स्वैच्छिक संस्थाओ को सौंप दिए जाएं और वे इनका निपटारा करे। इन संस्थाओं की कार्यशैली में लचीलापन होता है। उन्हें यह अतिरिक्त अवसर भी प्राप्त होता है कि कार्यक्रम के संबंध मे अन्य इच्छुक और विशेषज्ञता प्राप्त लोगो को भी अपने कार्य में शामिल कर सकें। स्वैच्छिक संस्थाओं के सदस्य कार्य करने की प्रेरक शक्ति से ओत-प्रोत होते हैं। यह तर्क भी दिया जाता है कि विकास कार्यक्रमों के अनुपालन में ऐसी संस्थाए अधिक उपयुक्त होती हैं।

भारत में 1990 के दशक के दौरान स्वैच्छिक संस्थाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिन्हें गैर-सरकारी संगठनों के नाम से जाना जाता है। साक्षरता, परिवार कल्याण, जनजातीय विकास और महिला विकास के क्षेत्रों में बहुत-सी गैर-सरकारी संस्थाओं की भूमिका प्रशंसनीय रही है। वास्तव में, स्व-योजना की प्रक्रिया ने इस संबंध में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को स्वीकार किया है।

अभ्यास

1. 'संघ' शब्द का अर्थ बताइए।
2. विभिन्न प्रकार के संघों की व्याख्या कीजिए।
3. संघ क्यों आवश्यक है? आधुनिक युग में संघों का क्या महत्त्व है?
4. 'हित समूह' क्या होता है? वह 'दवाब समूह' से किसी प्रकार भिन्न है?
5. राज्य को भी एक संघ के रूप में क्यो माना जाता है?
6. निष्ठाओं के उचित क्रम-निर्धारण की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
7. अंतर स्पष्ट कीजिए:

   क. समुदाय व संघ

   ख. समाज व संघ

अध्याय 5

राजनीतिक व्यवस्था

राजनीतिक वैज्ञानिकों के लिए अपने अध्ययनों को केवल औपचारिक एवं विधिक संस्थाओं तक ही सीमित रखना एक सरल कार्य नहीं रहा। संस्थाओं का अस्तित्व में आना विभिन्न कारको व शक्तियों, जैसे सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व आर्थिक प्रक्रियाओं के एक जटिल पारस्परिक प्रभाव का परिणाम हैं। ऐसे ही कई कारकों से प्रभावित होने के कारण ही भारतीय संविधान निर्माताओं ने एक संघात्मक संविधान को अंगीकार करने का निर्णय लिया। अपने कार्यसंचालन में संस्थाएं विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होती हैं। सरकारी संस्थाएं भी अलग-अलग रहते हुए एकाकीपन में कार्य नहीं करती।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में एक परिवर्तन हुआ और वह था- औपचारिक विधिक संस्था से राजनीति की प्रक्रिया की ओर। कुछ विद्वान सरकारी संस्थाओं की शक्तियों व कार्यों की समीक्षा मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे अपितु वे उनके वास्तविक कार्यसंचालन की जानकारी की ओर भी उन्मुख हुए। किन शक्तियों का प्रयोग कब और किसके द्वारा किया जाना है? ऐसी शक्ति प्रयोग की सीमाएं क्या हैं? इन्हीं सवालों ने राजनीतिक विश्लेषण में बदलाव की आवश्यकता को बल प्रदान किया है। विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक समूहों तथा राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक कार्य-संचालन के विस्तृत ब्यौरे इस विश्लेषण के प्रमुख विषय थे। आनुभाविक अध्ययनों के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों की गतिविधियों का विश्लेषण किया गया। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानव विज्ञान व इतिहास जैसे विषयों के गहन अध्ययन ने विभिन्न मौलिक क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को सुझाया। इन अध्ययनों में समाजों की संस्थाओं व प्रक्रियाओं के परस्पर संबंधों की प्रकृति को प्रधानता दी गई। यह अनुभव किया गया कि दूसरे अंतरविषयक अध्ययनों का एक चित्र प्रस्तुत किया जाए जो संपूर्ण जानकारियों से भरपूर हो। डब्ल्यू.जे.एम मैकेंजी के *सर्वाच्छादन सिद्धांत* के अनुरूप परस्पर विरोधी निष्कर्षों व जटिलताओं को युक्तियुक्त ढंग से रखना आवश्यक हो गया। *सामान्य व्यवस्था सिद्धांत* ने ऐसे ढांचे को प्रस्तुत किया।

व्यवस्था उपागम की बुनियादी प्रकृति को समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। यह व्यवस्था आस्ट्रियाई जीव वैज्ञानिक लुडविग वो बर्टेलेन्फी से संबद्ध है तथा इसे 20वीं शताब्दी के प्रथम चरणों में पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। यह सिद्धांत विज्ञान के संकुचित उप-खंडों में बांटने की प्रवृत्ति का विरोध करता था तथा विज्ञान के एकीकरण का प्रबल समर्थक था। अनुकूल संकल्पनाओं व कार्य

पद्धति की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह आंदोलन जीव विज्ञान के अध्ययन से ही समृद्ध नहीं बना बल्कि अन्य विज्ञानों, जैसे मनोविज्ञान, मानव विज्ञान, गणित, विद्युत इंजीनियरी आदि के अध्ययनों का भी इस पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। इस से इस उपागम के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान मिला।

अपनी रूपरेखा के संदर्भ में, व्यवस्था उपागम यह बतलाता है कि विभिन्न उद्देश्यों अथवा तत्त्वों के मध्य परस्पर स्थायी सबंध बना रहता है। इन संबंधों के अपने सुनिश्चित प्रतिरूप और निर्धारित प्रक्रियाएं होती हैं। इस प्रकार अंतःसंबंधों के अपने तीन पहलू होते हैं : (क) तत्त्वो की पहचान (ख) ढांचे-गत संबंधो की रूपरेखा व (ग) प्रक्रियाओ का विस्तारीकरण जो ढांचे के तत्त्वो एवं रूपो को स्पष्ट करता है।

उदाहरण के लिए, पर्यावरण में चार उप-व्यवस्थाएं होती हैं– वायुमंडल, स्थलमंडल, जलमंडल व जैवमंडल। ये क्रमशः वायु, भूमि, जल व जगत् से संबंधित हैं। पर्यावरण के इन तत्त्वों के संबंधों की प्रकृति 'गतिशील' होती है। भौतिक पर्यावरण (यानी वायुमंडल, स्थलमंडल व जलमंडल) में होने वाला परिवर्तन जैवमंडल में परिवर्तन लाता है। ये चार उप-व्यवस्थाएं एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं। इन उप-व्यवस्थाओं में परस्पर संतुलन बना रहना चाहिए।

राजनीति विज्ञान में व्यवस्था सिद्धांत के प्रयोग के तीन उपागम हैं: (क) संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण, (ख) निवेश-निर्गत विश्लेषण और (ग) संचारण उपागम।

संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम

संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम का शीर्षक ही बतलाता है कि इसके विश्लेषण के दो रूप हैं– सरंचना और कार्य। संरचनाएं, वस्तुतः कुछ निश्चित कार्य हेतु ही अस्तित्व में आती हैं। प्रयास इस बात के विश्लेषण का है कि कौन-सी संरचना किस बुनियादी कार्य की पूर्ति करती है और किस परिस्थिति में। यद्यपि इस उपागम की तीव्र आलोचना हुई है तथापि राजनीति विज्ञान में इस उपागम का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

निवेश-निर्गत विश्लेषण

डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित निवेश-निर्गत विश्लेषण की प्रेरणा उन्हें मुख्य रूप से पार्सन द्वारा किए गए कार्य से मिली थी। यह आज भी राजनीतिक तथ्यों के विश्लेषण का विस्तृत 'व्यवस्था निष्पादन' माना जाता है। यह उपागम सरकार द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों की प्रक्रिया के विश्लेषण पर बल देता है। यह उपागम निर्णयकर्ताओं पर पड़ने वाले विभिन्न दबावो और उनके स्रोतों को ध्यान मे रखता है। एक बार निर्णय ले लिए जाने के बाद, सरकार को सुनिश्चित करना होता है कि इन निर्णयों को लोग मानें जिसके लिए वह शक्ति का प्रयोग करती है। समाज में "मूल्यों के आधिकारिक विनियोजन" को राजनीतिक प्रक्रिया कहते हैं।

संचारण-उपागम

यह उपागम कार्ल डब्लु. ड्यूश के काम से जुड़ा है। इस उपागम का प्रमुख उद्देश्य राजनीति तथा सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्यो की ओर मानव

आचरण को दिशा देना है। इसकी पूर्ति हेतु युक्तियुक्त समन्वय आवश्यक है। सरकार यह काम उपयुक्त निर्णय लेने की प्रक्रिया के द्वारा ही पूरा कर सकती है। सरकार के भीतर व बाहर समाज के अभिकरणों की उपयुक्त सूचना द्वारा इन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। प्रभावी सरकार के नमूनों को पेश करने के लिए कार्ल ड्यूश ने विज्ञान व प्रौद्योगिकी की सकल्पनाओं से पर्याप्त सहयोग लिया है।

राजनीतिक व्यवस्था

इन विभिन्न उपागमों के अध्ययन के परिणामस्वरूप उपजी राजनीतिक व्यवस्था की संकल्पना को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न तत्त्व एक दूसरे से संबंधित होते हैं और कोई भी तत्त्व एकाकी रूप में कार्य नहीं करता। व्यवस्था के किसी भी भाग में होने वाले परिवर्तन दूसरे भागों को प्रभावित करते हैं तथा अंततः संपूर्ण व्यवस्था को भी प्रभावित करते हैं। एक व्यवस्था के रूप में पर्यावरण संबंधी उपर्युक्त उदाहरण इसी बात की पुष्टि करता है कि किसी भी उप-व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन दूसरी उप-व्यवस्थाओं को प्रभावित करेगा। उदाहरण के लिए, वायुमंडल, स्थलमंडल व ज़लमंडल में होने वाले दीर्घकालिक परिवर्तन के फलस्वरूप पौधों व प्राणियों की कई जातियां विलुप्त हो गई हैं और नए वातावरण के अनुकूल नई प्रजातियां भी उत्पन्न हो गई हैं। पर्यावरण में होने वाले ये परिवर्तन मानव जाति के विकास में लगभग दस लाख वर्ष पहले हुए परिवर्तन में सहायक बने। उप-व्यवस्थाओं मे होने वाले परिवर्तन अंततः व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।

परस्पर संबधो के बावजूद, ये विभिन्न तत्त्व 'व्यवस्थाओं' का निर्माण करते हैं, अतः व्यवस्थाएं और उप-व्यवस्थाएं भी विद्यमान है। पर्यावरण के उदाहरण को एक बार फिर देखें। पर्यावरण के निर्माण हेतु उत्तरदायी कारक यानी चार उप-व्यवस्थाएं भी स्वयं में व्यवस्थाएं है। वायुमंडल के ढांचे की पहचान चार अलग-अलग परतों में होती है–क्षोभमंडल, समतापमंडल, आयनमंडल और बाह्यमंडल। वायुमंडल की ये चार परतें यद्यपि एक-दूसरी से जुडी है तथापि उनके अपने निर्धारित स्थान हैं। इसी प्रकार पर्यावरण की तीन उप-व्यवस्थाएं अर्थात् स्थलमडल, जलमंडल व जैवमंडल भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बनी हैं जो उनकी अपनी-अपनी उप-व्यवस्थाएं हैं। अतः वायुमंडल की चार परतें, और पर्यावरणीय व्यवस्था के तीन मंडल मुख्य व्यवस्था के संदर्भ में, उनकी अलग-अलग उप-व्यवस्थाएं हैं और उनमें अपने विशिष्ट तत्त्व शामिल हैं। व्यवस्थाओं और उप-व्यवस्थाओं में सीमांकन विभिन्न स्तरों पर महत्त्वपूर्ण है। आइए, एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में भारतीय राज्य के उदाहरण से इस उपागम को समझने का प्रयास करें।

भारतीय राज्य – एक व्यवस्था के रूप में एवं उसकी उप-व्यवस्थाएं

आज के अधिकाधिक अन्योन्याश्रित जगत में कोई भी राज्य अलग-थलग नहीं रह सकता। भारत राष्ट्रों की एक बड़ी व्यवस्था का सदस्य है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है और वह अंतर्राष्ट्रीय

मुद्रा कोष, विश्व बैंक व यूनेस्को यानी संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन जैसे अभिकरणों से सदैव प्रभावित होता रहता है। भारत अन्य अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओ, जैसे राष्ट्र-कुल, दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन आदि से भी संबद्ध है।

इन सगठनों का सदस्य होने के नाते भारतीय राज्य को इनकी नीतियो तथा घोषणाओं को ध्यान में रखना पड़ता है। इन सामूहिक अभिकरणों के साथ-साथ भारत के संबंध अन्य देशो से भी हैं, जिनका आधार द्विपक्षीय व बहुपक्षीय है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के विभिन्न स्तर हैं, उनकी भिन्न-भिन्न परते हैं, और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के संबंध हैं तथा भारत उनका एक भाग है। नीति-निर्धारण करते समय इसे जटिल अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण को ध्यान में रखना पड़ता है। प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों, यहां तक कि कई राष्ट्रों का भी, भारत की नीतियो पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

भारतीय राज्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक उप-व्यवस्थाओं से मिलकर बनता है। इस की प्रत्येक उप-व्यवस्था के अपने विशिष्ट तत्त्व हैं। अर्थव्यवस्था कई क्षेत्रों, जैसे कृषि और उद्योग को मिलाकर बनती है जिनके अपने-अपने पहलू और प्रक्रियाए हैं। भारत राज्य को व्यवहार्य और प्रभावी नीतियों का निर्धारण करते समय इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखना पड़ता है। ये प्रकियाएं राज्य की गतिविधियों मे योगदान देती हैं तथा कभी-कभी उसकी कार्यव्यवस्था में निरोधक भी बनती हैं। इसी प्रकार, सामाजिक और सांस्कृतिक कारक भी राज्य को प्रभावित करते हैं।

यह प्रभाव उप-व्यवस्थाओं में स्पष्टतः दिखलाई देता है। यद्यपि हम 'आर्थिक' व 'सामाजिक' कारकों में भेद करते हैं तदापि ये एक-दूसरे को निश्चित रूप मे प्रभावित करते हैं। एक क्षेत्र-विशेष में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्रों की प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। आर्थिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र को प्रभावित करता है और फिर स्वयं भी उससे प्रभावित होता है। कोई भी नई आर्थिक गतिविधि सामाजिक संबंधों और सामाजिक संस्थाओ में परिवर्तन लाती है। औद्योगीकरण, जो निश्चय ही एक आर्थिक गतिविधि है, पारिवारिक ढांचे तथा सामुदायिक जीवन में परिवर्तन लाता है। व्यक्ति की मनोवृत्ति व व्यवहार में भी परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन आर्थिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। आर्थिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। भारत में हुई हरित क्रांति से खाद्य उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। इसी के साथ इसने ग्रामीण क्षेत्र में एक नए मध्यवर्गीय किसान वर्ग को भी जन्म दिया, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव राजनीतिक शक्तियों के संतुलन पर पड़ा।

'राजनीतिक' उप-व्यवस्था में कई संस्थाएं व गतिविधियां सन्निहित होती है। उनमे से कुछ है– संविधान, संसद, मंत्रि-परिषद सर्वोच्च न्यायालय, राजनीतिक दल, अधिकारी वर्ग, चुनाव व्यवस्था आदि। इनमें से प्रत्येक के अपने तर्काधार हैं, कार्य-क्षेत्र हैं और वे संस्थाएं एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से जुड़ी हुई हैं।

इन संस्थाओ और प्रक्रियाओं के विभिन्न स्तर हैं और उन्हें विभिन्न दबावों तथा अनुकूलक कारकों के प्रभाव में, अपना कार्य करना होता है। इस

स्थितिं ने निश्चय ही भारतीय राज्य के विश्लेषण को वास्तव में ही अत्यंत जटिल बना दिया है। इन विभिन्न तत्त्वों के जटिल संबंधों, उनके कार्य-क्षेत्रो, उनके परस्पर प्रभावों का विस्तारपूर्वक निर्धारण करना आवश्यक है।

संविधानवाद और संविधान

व्यक्ति की स्वतंत्रता के संरक्षण हेतु संविधानवाद एक प्रमुख मील का पत्थर रहा है। यह राज्य और सरकार की संस्थाओं की शक्तियों व कार्यो को परिभाषित करने का प्रयास करता है। यह परिभाषा इन संस्थाओं के दायित्वों को स्पष्ट करती है तथा उनके कार्यक्षेत्रों व गतिविधियों का निरूपण करती है। इस से राज्य तथा सरकार की शक्तियों का सीमांकन होता है। यह स्पष्ट करने के साथ-साथ कि इन संस्थाओं से क्या अपेक्षित है, संविधान यह भी स्पष्ट कर देता है कि वे क्या-क्या नहीं कर सकती। संविधानवाद राज्य और सरकार की शक्तियों पर अंकुश लगाता है।

हम पहले यह विवेचना कर चुके हैं कि समाज में राज्य के रूप में एक संगठित शक्ति का होना आवश्यक है तथा सरकार राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ये संस्थाएं न केवल अनिवार्य हैं अपितु समाज के निर्विघ्न कार्यचालन के लिए उपयोगी भी है। संविधान राज्य की शक्तियों की सीमाओं, प्रकारों को स्पष्ट करता है, जो समाज को स्वीकार्य हों ताकि व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुनिश्चित किया जा सके। इसी आधार पर इस विचार को बल मिला कि राज्य तथा सरकार की शक्ति निरंकुश नहीं होनी चाहिए। इन शक्तियों पर प्रभावी रोक होनी चाहिए। राज्य की शक्ति पर प्रतिबंध लगाने संबंधी प्रावधानो का स्रोत, नैसर्गिक नियम और नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांत मे निहित था। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के कुछ जन्मजात अधिकार है। ऐसे अधिकार व्यक्ति की कुछ आधारभूत स्वतंत्रताओं पर जोर देते है ताकि वह "सुखी जीवन जी सके, और स्वतंत्रता और सुख" भोग सके। इग्लैंड, अमेरिका व फ्रांस जैसे देशो मे इन अधिकारों के विकास का एक लंबा इतिहास है जिसमें मैग्नाकार्टा (1215), बंदी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (1679), बिल ऑफ राइट्स (1689), संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा (1776), यू.एस. बिल ऑफ राइट्स (1789), और फ्रेंच डैक्लेरेशन ऑफ राइट्स ऑफ मैन एंड सिटिजन्स (1789) जैसे घोषणापत्र विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। समय-समय पर की गई ये अधिकार संबधी घोषणाएं आधुनिक संविधानों के लिए प्रतिमान सिद्ध हुई। भारतीय संविधान के तीसरे भाग में वर्णित मौलिक अधिकार इन्हीं सिद्धांतो के अनुरूप हैं। यह राज्य शक्ति और व्यक्ति की स्वतंत्रता के संबधो को व्यवहार्य बनाने की दिशा में एक प्रयास है।

राज्य के संगठन संबंधी सिद्धांतो की प्रस्थापना के माध्यम से संविधानवाद ने राज्य की शक्ति और व्यक्ति की स्वतंत्रता मे सामंजस्य स्थापित करने का मार्ग बताया है। इस के मुख्य मुद्दे थे . शक्ति विभाजन और उसके प्रयोग पर प्रतिबध। यदि राज्य का स्वरूप, उसकी संस्थाए और प्रक्रियाएं कुछ सर्वोपरि कानूनों से शासित होती हैं, तो राज्य की शक्ति इन कानूनो के माध्यम से अपने-आप सीमित हो जाएगी।

चर्च और राज्य एव राजा व सामंतों के मध्य मौलिक विवाद, विभिन्न प्रकार की क्रांतिया (फ्रांस,

अमेरिका तथा चीन) और तीसरी दुनिया के देशों से औपनिवेशिक शासन का अंत, यह दर्शाते हैं कि संविधानवाद की संकल्पना की जड़ें कितनी मजबूत हुई है। अस्तित्व में आने के बाद कोई भी राज्य सबसे पहले अपने संविधान का निर्माण करता है। किसी राज्य का संविधान उसकी संप्रभुता की घोषणा है।

सर्वप्रथम, संविधान उस आस्था की अभिव्यक्ति है, जो लोग राज्य के प्रति रखते हैं और जिसके अंतर्गत वे राज्य से अपनी आशाएं तथा आकांक्षाएं पूरी कराना चाहते हैं। भारतीय संविधान अपनी प्रस्तावना में जब यह घोषित करता है कि भारत "एक प्रभुत्तासंपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य" है तो वह आस्था के इस सिद्धांत को ही अभिव्यक्त करता है। राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांत भी ऐसी ही भावनाओं को प्रकट करते हैं। संविधान निर्माताओ के दर्शन की जो रूपरेखा, इस वृहद् प्रलेख को बनाते समय उनके समक्ष आदर्श रूप में थी, वही संविधान में वर्णित है।

संविधान में राज्य के दार्शनिक और अवधारणात्मक ढांचे को स्पष्टतम रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना जब अपने आशय की अभिव्यक्ति करती है कि "न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व" सभी नागरिकों को प्राप्त होंगे, तो उसके उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाते है। प्रश्न यह है कि ये संकल्प और दार्शनिक अभिव्यक्तियां यथार्थ में कैसे लागू होंगी। विस्तृत संस्थागत ढांचे और प्रक्रियाओं का उद्देश्य इन्हीं आदर्शो को सुनिश्चित करना है। इस संदर्भ में एक बार फिर भारत के संविधान का उल्लेख करना जरूरी हो जाता है। वयस्क मताधिकार, समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति एवं शिक्षा का अधिकार तथा सांविधानिक उपचारों के अधिकार, इन्हीं उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के विशिष्ट साधन हैं।

इस प्रकार, सविधान नागरिको के लिए कुछ अधिकारों की सुनिश्चित व्यवस्था करता है तथा उनके कुछ कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। भारतीय संविधान के तीसरे भाग में नागरिकों के मौलिक अधिकार वर्णित हैं तथा संविधान के 42वें संशोधन द्वारा नागरिको के दस मौलिक कर्त्तव्य जोड़े गए हैं।

संविधान में राज्य के अभिकरणो की शक्तियां भी निरूपित की जाती हैं। संविधान में यह भी बताया जाता है कि सरकार क्या कर सकती है और क्या नहीं कर सकती। संविधान लोगों और राज्य के संबंधों को तथा लोगों के पारस्परिक संबंधों को निरूपित करता है। यह उनकी पारस्परिक अपेक्षाओ का हल भी निकालता है। आधुनिक लोकतात्रिक संस्थाएं एक उत्तरदायी सरकार प्रदान करने का प्रयास करती हैं। चुनाव व्यवस्था, विधायिकाओं की कार्यविधि, न्यायपालिका का गठन आदि इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के साधन है। इसके साथ ही, संविधान का होना ही राज्य की निरंकुश शक्ति पर रोक है। चेष्टा होनी चाहिए कि राज्य अपनी सत्ता का प्रयोग करे तथा नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित करे। राज्य का संगठन तथा उसकी कार्यविधि इस प्रकार निरूपित हो कि दोनो उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

उपर्युक्त पावन उद्देश्यों की व्यावहारिक पूर्ति, संविधान में वर्णित संगठनात्मक ढांचों (संरचनाओं) पर निर्भर करती है। हमने देखा है कि राज्य की शक्ति का प्रयोग सरकारी ढांचे द्वारा किया जाता है। सरकार की संगठनात्मक संरचना उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है। कौन-सी संस्थाएं सर्वाधिक उपयुक्त हैं? उनकी रचना किस प्रकार होनी चाहिए? उनमें कौन-सी शक्तियां सन्निहित हों? उनकी शक्ति पर क्या रोक लगाई जाए? संविधान इन महत्त्वपूर्ण विषयों से संबद्ध होता है। भारतीय संविधान सघात्मक संरचना के साथ संसदीय शासन व्यवस्था का प्रावधान करता है और वह विभिन्न स्तरों पर संस्थाओं की शक्तियों तथा कार्यों का निरूपण भी करता है। इस प्रकार सरकारी तंत्र को निरूपित करने और उस पर नियंत्रण बनाए रखने की दृष्टि से कुछ अभिभावी सिद्धांतों का प्रांवधान भी किया गया है। शक्ति विभाजन की प्रभावोत्पादकता कार्य करने के तरीके पर निर्भर करती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, संघात्मक प्रणाली में शक्ति विभाजन अत्यधिक जटिल होता है तथा सांविधानिक प्रलेख अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। संस्थाओं (जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) के बीच शक्तियो का पृथक्करण अथवा सरकारों के विभिन्न स्तरों पर (जैसे संघ में केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच) शक्ति विभाजन के तरीकों का उल्लेख स्वयं सांविधानिक प्रलेख द्वारा किया जाता है।

कोई भी संविधान स्थायी प्रलेख नहीं होता। उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन-परिवर्तन किए जा सकते हैं। वह राज्य की दार्शनिक और संगठनात्मक संरचना का मात्र विस्तार होता है। संविधान द्वारा व्यवस्थित राज्य व सरकार को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों मे परिवर्तन की यथार्थ की सच्चाइयों का सामना करना पड़ता है। इन परिवर्तनों को ध्यान में रखना जरूरी है। परिणामस्वरूप, सिद्धांतों, शक्ति प्रबंधनों व सरकारी तंत्र मे परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। सभी जीवंत संविधानों में संशोधन की प्रक्रियाओ का प्रावधान होता है।

परिवर्तन का एक दूसरा स्तर भी होता है जो आवश्यक व अपरिहार्य है। सरकारी संस्थाओं में पदासीन लोगों को हटाकर उनके स्थान पर नए व्यक्तियों की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ सकती है। समाज में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों में शक्ति प्राप्ति हेतु प्रतिस्पर्धा होती है जिसे सांविधानिक साधनों से सुलझाना व विनियमित करना पडता है। आइए, हम विधायिका मे अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियो के लिए स्थान आरक्षण का उदाहरण लें। सविधान के निर्माताओं ने अनुभव किया कि समाज के इन वर्गो के लोग अधिक कमजोर हैं, इसलिए वे चुनाव के दौरान अन्य समाजिक समूहों के लोगो से मुकाबला नहीं कर पाएंगे। यदि समाज का यह बड़ा भाग चुनावी तथा विधायी प्रक्रियाओ से वंचित रह जाए, तो निश्चय ही, भारतीय लोकतंत्र की कार्य शैली पर एक आघात होगा; अतः लोक सभा तथा विधान सभाओं में, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के लिए स्थान आरक्षण का प्रावधान किया गया है। कोई भी सरकारी संस्था, किसी पद पर, एक ही तरह के लोगों से सदैव नहीं चल सकती। इसलिए समाज में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप कार्मिकों में भी बदलाव का होना आवश्यक है।

कुछ ऐसे पदासीन व्यक्ति भी हो सकते हैं जो अपनी शक्तियो का दुरुपयोग करने लगे। ऐसे व्यक्तियों को उनके पदों से हटाने के लिए सांविधानिक प्रावधान होते हैं। चुनाव में पराजित होना सामान्य बात है और सरकारी पदाधिकारियो को पद से हटाने के लिए महाभियोग की प्रक्रिया अपनानी पडती है।

सविधान, इस प्रकार राज्य के आदर्शों तथा सरस्थात्मक सरचना की व्यवस्था को चरम स्तरीय वैधता प्रदान करता है। वह राज्य को संस्थात्मक संरचना प्रदान कराता है जो विधिसम्मत होती है। वह राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसकी दार्शनिक और अवधारणात्मक संरचना को सस्थात्मक स्थिति, शक्तियों और कार्यो से जोड़ता है।

लिखित और अलिखित संविधान

अधिकांश देशों में संविधान तब अस्तित्व में आया जब वहां सोच-समझकर यह निर्णय लिया गया कि उनके यहां भी ऐसा एक प्रलेख होना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान को अंतिम रूप 1787 मे प्राप्त हुआ। भारतीय संविधान 9 दिसम्बर 1946 से 26 नवंबर 1949 तक सविधान सभा के सदस्यों द्वारा किए गए गंभीर विचार-विमर्श का परिणाम था। लिखित संविधानों में संस्थागत प्रबंधनों व प्रक्रियाओ का प्रावधान होता है। कुछ संविधानों के आकार दूसरे संविधानों की अपेक्षा विस्तृत होते हैं। भारतीय संविधान सर्वाधिक विस्तृत संविधानों में से एक है जिसमे 395 अनुच्छेद हैं जिन्हें 22 भागो और 12 अनुसूचियों मे व्यवस्थित किया गया है। इसकी तुलना में, अमेरिकी संविधान में केवल 7 अनुच्छेद हैं जिनमें पहले 4 अनुच्छेद तो अत्यंत संक्षिप्त हैं।

ब्रिटेन का संविधान अलिखित संविधान का उत्कृष्ट उदाहरण है। सन् 1215 मे मैगना कार्टा से शुरू होकर 1688 में हुई गौरवमय क्रांति तक विधियो तथा संस्थाओ का क्रमिक विकास कई शताब्दियों मे हुआ। ब्रिटेन के संविधान का कोई एक प्रलेख नहीं हैं। यह संविधानिक रूढ़ियों व परंपराओं से बना हुआ है जो सस्थाओ के कार्यसंचालन में निर्णयों के रूप में कार्य करते हैं। इनके साथ-साथ संविधियां तथा संसद के अधिनियमों के प्रलेख भी हैं। इस आधार पर ब्रिटेन मे ऐसी कोई विधि अथवा प्रलेख नहीं है जो संसद के अधिनियमों से श्रेष्ठ हो। अतः ब्रिटेन में संसद की सर्वोच्चता की व्यवस्था है।

कनाडा का संविधान भी लिखित संविधान का उदाहरण है, लेकिन वहां कुछ अलिखित रूढ़ियो एवं परंपराओ का भी पालन किया जाता है। यद्यपि वहां संघात्मक व्यवस्था है तथापि वहां का संविधान कोई विस्तृत संविधान नही है।

लिखित संविधान कई कारणों से आवश्यक होता है। जब कोई राज्य, किसी आमूलचूल परिवर्तन के कारण अस्तित्व में आता है। चाहे वह परिवर्तन क्रांति के रूप मे हो अथवा औपनिवेशिक शासन से आजादी के रूप में, नई तरह की सरकार बनाने की इच्छा से प्रेरित होता है। तब लोगों की अपेक्षाएं एवं आकांक्षाएं तथा नेताओं की दूरदर्शितापूर्ण दृष्टि संविधान में प्रतिष्ठापित हो जाती है। अमेरिकी तथा भारतीय संविधानों की यही स्थिति थी।

यह कोई अप्रत्याशित घटना नहीं है कि सभी संघात्मक प्रणालियों वाले देशों जैसे स्विट्ज़रलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत आदि ने अपने संविधान लिखित रूप में अपनाए हैं। इकाइयों के मध्य शक्ति

विभाजन संघात्मक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जिसमें ऐसा प्रलेख जरूरी है जो इस विभाजन का विस्तृत ब्यौरा रखता हो। अमेरिका के 13 मूल राज्यों ने शक्ति विभाजन के संबंध में एक स्वीकृत योजना के अंतर्गत यह निर्णय लिया। परस्पर संबंधों को लेकर संघ की इकाइयों में विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। वास्तव में, कभी न कभी प्रत्येक संघ को इस समस्या का सामना करना पड़ा है। संविधान जैसे प्रलेख के लिए यह जरूरी है कि उसमें संघीकृत इकाइयों को शक्तियों तथा उन पर लगे प्रतिबंधों को भी परिभाषित किया जाए। इसके परिणामस्वरूप, इकाइयों की अपनी शक्तियों के प्रति जागरूकता बढ़ेगी, जिससे, वे ऐसे विवादों को उत्पन्न होने से रोकने की चेष्टा करेंगी। भारतीय संविधान के वे भाग जिन में केंद्र तथा राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन वर्णित है, संघात्मक संविधान का उदाहरण है।

कठोर तथा लचीले संविधान

कोई भी संविधान एक राजनीतिक प्रलेख है। एक विशेष राजनीतिक वातावरण में आकार ग्रहण करते हुए और तात्कालिक राजनीतिक विचारों व संस्थाओं को प्रतिबिबित करते हुए, वह भावी राजनीतिक तंत्र की संरचना तथा प्रक्रियाओ का प्रावधान करता है। किसी भी देश की राजनीतिक स्थिति स्थिर नहीं होती। उसमें निरंतर प्रवाह चलता रहता है। नवीन विचारों व मागों के साथ, नए सामाजिक व आर्थिक समूह उभरते रहते हैं। परिवर्तन संबंधी ये शक्तियां, राजनीतिक प्रक्रिया तथा संस्थाओं को प्रभावित करती हैं जिनके प्रति प्रस्थापित राजनीतिक व्यवस्था को ध्यान देना ही पड़ता है।

प्रावधानों को कार्यान्वित करते समय, संविधान के कई पहलुओ की अस्पष्टता उजागर होती है। ऐसी स्थिति में अंतर्विरोधों व कठिनाइयों को दूर करना पड़ता है। यहां तक कि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य मे भी बदलाव हो सकता है जिस के लिए संविधान में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न हो सकती हैं जिनके कारण सरकारी सरचना में परिवर्तन सन्निकट हो जाता है। फिर भी सतत प्रवाह के मध्य सांविधानिक संरचना स्थायित्व को बल प्रदान करती है। प्रत्येक संविधान मे राजनीतिक संरचना मे क्रमिक परिवर्तन हेतु, संशोधन प्रक्रिया के साधन का प्रावधान आवश्यक होता है। संविधानों में स्थायित्व व परिवर्तन में संतुलन भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिबिंबित रहता है। संविधान की कठोरता तथा उसका लचीलापन, संशोधन प्रक्रिया तथा संविधान की संस्थाओं के जटिल ढांचे में प्रतिबिंबित होता है। लिखित संविधानों में प्रायः कठोरता की प्रवृत्ति पाई जाती है लेकिन उनमें संशोधन की विशेष प्रक्रिया का प्रावधान होता है।

ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत संविधान मे संशोधन संसद द्वारा पारित कानून से किया जा सकता है। वहां सामान्य विधि तथा सांविधानिक विधि में कोई भी विभेद नहीं होता। संशोधन केवल संसद द्वारा पारित कानूनो से ही किए जा सकते है, जो सर्वोपरि होते हैं। परिवर्तन लाने की यह विधि सर्वाधिक लचीली व्यवस्था का सुस्पष्ट उदाहरण है। यह प्रणाली, बदलती संकल्पनाओं व अवस्थाओ के अनुरूप, सुगमतापूर्वक ढाल लेने की अति उपयोगी व्यवस्था भी है।

यह व्यवस्था उस राज्य के लिए अधिक उपयुक्त है जहां दीर्घकालिक सुस्थापित राजनीतिक परंपराएं हों। ब्रिटेन में प्रचलित द्वि-दलीय प्रणाली, विचारणीय मुद्दों पर स्वस्थ वाद-विवाद को सुनिश्चित करती है तथा राजनीतिक नियंत्रण को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है। राजनीतिक संरचना में किसी बड़े परिवर्तन का प्रस्ताव, आम चुनाव के दौरान जनसाधारण के समक्ष एक बड़े मुद्दे के रूप में रखा जाता है तथा चुनावी साधन द्वारा हल किया जाता है। ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं द्वारा किए गए परिवर्तन अपनाने के लिए लंबे दौर से गुजरना पड़ा है, जिसके फलस्वरूप परंपराओं की जड़े वहा मजबूत हुई है और इस प्रकार ये परपराएं जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े परिवर्तनो के विरुद्ध एक प्रहरी का कार्य करती रही हैं।

अधिकांश लोकतांत्रिक प्रणालियों में बहुमत प्राप्त दल विधायी निर्णय अपने पक्ष मे करवा लेता है। सांविधानिक प्रावधानों में परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों के मामले में, यह स्थिति स्वीकार्य नहीं भी होती। ऐसी व्यवस्था में, प्रायः सांविधानिक कानूनो और साधारण कानूनों मे विभेद नहीं किया जाता। दूसरी ओर, कठोर संविधानों में यह विभेद स्पष्ट कर दिया जाता है, जैसे साधारण कानून विधायिका मे बहुमत से पारित व अंगीकृत किया जाता है जबकि सांविधानिक उपबंधों में परिवर्तन के लिए विशेष प्रावधान किए जाते है।

भारतीय प्रिरिप्रेक्ष्य मे, साधारण विधि तथा साविधानिक विधि में अंतर तब सुस्पष्ट हो गया जब सर्वोच्च न्यायालय ने 1973 मे केशवानन्द भारती तथा 1980 में मिनर्वा मिल्ज़ मुकदमों में निर्णय देते हुए स्पष्ट किया कि संसद की संशोधन संबंधी शक्ति का प्रयोग भारतीय सविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन हेतु नही किया जा सकता।

इस विभेद के अनुसार, भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों में संशोधन की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है। संविधान के कुछ प्रावधानों में संशोधन संसद के दोनों सदनों में बहुमत से कर सकते हैं परतु भारतीय संविधान के शेष अधिकांश प्रावधानों का संशोधन संसद के दोनों सदनों में दो-तिहाई बहुमत द्वारा हो सकता है। संविधान के कुछ प्रावधान ऐसे भी हैं जिनके संशोधन हेतु दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत की सहमति के साथ-साथ आधे से अधिक राज्यो की विधान सभाओं का अनुसमर्थन अनिवार्य है।

भारतीय संविधान की ये विभिन्न संशोधन प्रक्रियाएं संबद्ध प्रावधानों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए निर्धारित की गई हैं। जो प्रावधान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माने गए, उनके संशोधन हेतु कठोर प्रक्रिया अपनाई गई ताकि उनका संशोधन आसानी से अथवा जल्दी-जल्दी में न हो सके। जो प्रावधान कम महत्त्व के थे, उनकी संशोधन प्रक्रिया में कम कठोरता बरती गई। संविधान की संशोधन प्रक्रियाएं इस तथ्य को प्रतिबिंबित करती है कि भारतीय संविधान लचीलेपन तथा कठोरता का सम्मिश्रिण है।

अभ्यास

1. 'राजनीतिक व्यवस्था' से क्या अभिप्राय है?
2. 'संविधानवाद' की व्याख्या कीजिए। उसके महत्त्व की विवेचना कीजिए।
3. संविधान क्या है?
4. लचीले अथवा कठोर संविधान में से कौन-सा संविधान अधिक उपयोगी है? कोई दो तर्क दीजिए।
5. लिखित संविधान क्यो आवश्यक है? दो कारण बतलाइए।
6. भारतीय राज्य का एक व्यवस्था के रूप में वर्णन कीजिए। इसकी उप-व्यवस्थाए क्या है?
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए·
   (क) निवेश व निर्गत विश्लेषण
   (ख) उप-व्यवस्था
   (ग) साधारण विधि व सांविधानिक विधि।

अध्याय 6

सरकार के रूप उनका वर्गीकरण

सरकार राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। सरकार के संगठन द्वारा ही सत्ता का प्रयोग होता हैं। पिछले अध्याय में हम राज्य और सरकार के भेद की चर्चा कर चुके हैं। भिन्न-भिन्न देशों में सरकारों का संगठन अलग-अलग प्रकार का होता है।

सरकारों का वर्गीकरण कई कारणो से उपयोगी है। यह विभिन्न परिस्थितियो में संस्थाओं की तुलना करने में सहायक होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया, सरकार के अलग-अलग स्वरूपों में विद्यमान सामान्य एवं विशिष्ट तत्त्वों की पहचान करने मे सहायता करती है। इस तुलना का उद्देश्य संस्थाओं की स्थापना के पीछे निहित तर्काधार को समझना होता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन एवं अमेरिका की कार्यकारी संस्थाओ की तुलना से उनकी स्थापना के कारण, उनकी शक्ति, कार्य एवं उन सिद्धांतों का पता चलता है जिन पर वे आधारित हैं।

सरकार के स्वरूपों की तुलना से उनकी शक्ति के आधार को समझने के साथ-साथ शक्तियों, कार्यो एवं सरकार की अन्य संस्थाओं के साथ उसके संबंधो का भी पता चलता है। इससे विभिन्न सरकारों एवं उनकी कार्यव्यवस्था की समानता एवं असमानता को समझने में भी सहायता मिलती है। तुलनात्मक अध्ययन हेतु अनेक तत्त्वों की व्याख्या करनी होती है, जैसे सरकार के स्वरूप-विशेष के उदय के ऐतिहासिक कारण, समाज की सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति, अन्य देशों के पारस्परिक संबंध इत्यादि। इस प्रकार, सरकार का वर्गीकरण मात्र सांविधानिक संस्था के रूप तक ही सीमित नहीं है अपितु सरकार की विभिन्न संस्थाओं की कार्यशैली को भी महत्त्वपूर्ण मानता है।

वर्गीकरण की समस्याएं

वर्गीकरण का कोई भी प्रयास अलग-अलग श्रेणियां बनाता है, जिनमें सरकार और उसकी संस्थाओं को रखा जा सके। ऐसा करने के दो तरीके हैं। हम सरकार एवं राज्य के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तार्किक आधार पर उन्हें विस्तृत श्रेणियों में बांट सकते हैं। दूसरा तरीका यह है कि विभिन्न सरकारों की व्याख्या करके हम यह देखें कि सत्ता के वास्तविक विभाजन और उनके कार्य की दृष्टि से कौन-से मुख्य स्वरूप उभर कर आते हैं। अरस्तू का सर्वविदित वर्गीकरण जिसमें 150 से अधिक संविधानों की व्याख्या के आधार पर सरकार के तीन मुख्य रूपों की व्याख्या की गई है, वर्गीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र मे कुछ आधुनिक अध्ययनों में इसी प्रकार के प्रयास किए गए हैं।

वर्गीकरण में जब किसी एक तथ्य को अन्य तथ्यों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है तो वर्गीकरण

के प्रति अध्ययनकर्ता के झुकाव का प्रश्न उठाया जा सकता है। इस प्रकार के झुकाव के मूल में, अध्ययनकर्ता का किसी संस्कृति विशेष अथवा विचारधारा के प्रति पूर्वाग्रह हो सकता है।

वर्गीकरण की एक अन्य कठिनाई यह है कि प्रयुक्त शब्दों के अर्थ विभिन्न प्रसंगो में अलग-अलग होते हैं और संस्थाओं के अर्थ भी बदल जाते हैं। अमेरिका, फ्रांस और भारत में राष्ट्रपति पद है लेकिन इस संस्था का रूप सभी देशों में भिन्न-भिन्न है। ब्रिटेन और भारत में अफसरशाही है, पंरतु शक्तियों और कार्यो के आधार पर इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार, कुछ अन्य शब्दावलियां, जैसे संसद, प्रधान मंत्री, न्यायपालिका जैसी संस्थाओं के अर्थ भी भिन्न-भिन्न होते है। संविधान में वर्णित विभिन्न संस्थाओं को विशेष मान्यताओं और अपेक्षाओं के आधार पर सम्मिलित किया जाता है। पंरतु वास्तविक कार्यशैली के आधार पर ये संस्थाएं भिन्न हो सकती है। संस्थाओं का सांविधानिक स्वरूप और उनके वास्तविक कार्यो में भेद एवं वर्गीकरण की एक समस्या है। सिद्धांत और व्यवहार में अंतर हो सकता है। इस के कई कारण होते हैं।

इस प्रकार वर्गीकरण की कोई भी रूपरेखा अंतिम और स्थायी नहीं होती। प्रारंभिक वर्गीकरण के बाद, सरकार के प्रत्येक प्रकार का विस्तृत वर्णन आवश्यक होता है। सरकार के विभिन्न स्वरूपो को समझने के लिए वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है।

राज्य के रूप

राज्य और सरकार एक-दूसरे से इस तरह जुड़े हैं कि उनकी विशिष्टताओं और लक्ष्यो मे भेद कर पाना कठिन होता है जो विशिष्टताएं राजनीतिक प्रक्रिया में मूल सामाजिक-आर्थिक सबधो की ओर इंगित करती है, उनका संबंध मूलतः राज्य से होता है।

दूसरी ओर, सरकारों के रूप विभिन्न संस्थाओ पर आधारित होते है। सरकार की विभिन्न संस्थाओ की गतिविधियां सामाजिक एवं आर्थिक तत्त्वों से प्रभावित होती है। जब हम सरकार के रूप की चर्चा करते हैं तो संस्थाओं के रूपों, शक्तियों तथा कार्यों के विश्लेषण पर बल दिया जाता है।

सरकार के रूप और उनका वर्गीकरण

सरकार के वर्गीकरण ने राजनीतिक विचारकों जैसे ग्रीक विचारक हेरोडोटस एवं प्लेटो का ध्यान आकर्षित किया। अरस्तू का वर्गीकरण सर्वविदित है। इससे बोदां, हॉब्स, हैरिंगटन तथा मौन्टेस्क्यू जैसे विचारक प्रभावित हुए। जिन राजनीतिक विचारकों ने ऐसे प्रयास किए, वे उस समय की राजनीति एवं राजनीतिक व्यवस्था की समस्याओं से परिचित थे। उनके वर्गीकरण की योजना सरकार के प्रचलित स्वरूपों से प्रभावित थी तथा सरकार के स्वरूप के प्रति अपनी अधिमान्यता भी उन दार्शनिकों ने व्यक्त की। सरकार के किसी भी वर्गीकरण की योजना से पूर्व उसके आधार का निर्णय करना होगा। अरस्तू के सरकार के वर्गीकरण में वह अंतर्निहित है। उसने संविधान को वर्गीकृत करने के लिए दो आधारों के संयुक्त रूप को अपनाया। पहला आधार संप्रभुता का स्थान एवं संप्रभुता की शक्ति में लोगों की हिस्सेदारी था। इसलिए उसने राजतंत्र, कुलीनतंत्र एवं समाजतंत्र में अंतर किया, जिसमें शासन की बागडोर क्रमशः एक, कुछ, या अनेक लोगों के हाथों में रहती है।

संस्थाओं के मूल्यांकन का दूसरा आधार गुणात्मक अवधारणा से संबद्ध था, जिसका सबंध, सरकार किसके हितो के लिए कार्य करती है, से जुड़ा हुआ था। ऊपर दिए गए सरकार के तीनों ही स्वरूप, समाज के हित मे काम करते हैं। अतः ये व्यवस्थाएं सामान्य शासन व्यवस्थाएं हैं। लेकिन ऐसी सरकारे केवल उन लोगों के हित में भी कार्य कर स-ती है जिनके हाथ मे शक्ति हैं। इसे सरकार का विकृत स्वरूप कहते है। ये विकृत स्वरूप वाली सरकारें क्रमशः अत्याचार तंत्र, अल्पतंत्र एवं लोकतत्र अथवा भीड़तंत्र हैं, जैसा कि, नीचे तालिका में दर्शाया गया है:

अरस्तू के सरकार के वर्गीकरण को अन्य विचारको ने भी अपनाया। इनमें बोदां, थामस हॉब्स एवं जेम्स हैरिंगटन तथा मौन्टेस्क्यू अग्रणी हैं। बोदां ने अरस्तू के साथ संप्रभु शक्ति के केंद्र को वर्गीकरण का एक महत्त्वपूर्ण आधार माना है। यद्यपि उसने पारिस्थितिक तत्त्वों, जैसे आर्थिक एवं भौगोलिक तत्त्व के प्रभाव पर भी बल दिया है। हॉब्स ने बोदां के संप्रभु शक्ति के केंद्र के आधार की सरकारों के वर्गीकरण में विस्तार से चर्चा की है। जेम्स हैरिंगटन अधिक व्यावहारिक थे। वह सरकार के निरंकुश राजतंत्र, मिश्रित या सामंती

[illegible]

लोगों की संख्या जिनके पास सत्ता है	*सामाजिक हित में कार्य करने वाली सरकार*	*विकृत रूप*
एक	राजतंत्र	अत्याचार तंत्र
कुछ	कुलीनतत्र	अल्पतंत्र
बहुत	बहुतंत्र	लोकतंत्र या भीड़तंत्र

अरस्तू परिवर्तनचक्र की चर्चा करते है जिसमें एक विशेष प्रकार की सरकार में जब विकृति आ जाती है तो कालांतर में उसके स्थान पर सामान्य शासन व्यवस्था स्थापित हो जाती है। अरस्तू सत्ता के दुरुपयोग के बारे में सचेत थे और इसीलिए उन्होंने सरकार के विकृत रूप की चर्चा अपने वर्गीकरण मे की। इस चक्र की निरंतरता के लिए, विकृत स्वरूप को सरकार के सामान्य स्वरूप से बदला जाता है। इस तरह अरस्तू के वर्गीकरण में सरकार के परिवर्तन का सिद्धांत भी शामिल है।

राजतंत्र एवं राष्ट्रकुल के वर्गीकरण से सहमत हैं। परंतु उनका तर्क है कि सत्ता का केंद्र वास्तव में भूमि प्रबंधन व्यवस्था पर निर्भर होता है, जैसे भूमि पर नियंत्रण से सरकार के स्वरूप का निर्धारण। मौन्टेस्क्यू ने सरकार के स्वरूप के संबंध में वातावरण के प्रभाव पर बल दिया। उनके अनुसार सरकार के तीन प्रकार – गणतंत्र, राजंतत्र एवं स्वैरतत्र (तानाशाही) हैं।

आधुनिक राज्य उनकी गतिविधियों के क्षेत्र के संदर्भ में बड़ा जटिल है, और सरकार की

संरचना एवं कार्यव्यवस्था को भी सिद्धांत रूप में समझना काफी कठिन है। वर्गीकरण का आधार भी विस्तृत हो गया है। जहां इनमें से कुछ सरकार के गठन के तरीके तक ही सीमित हैं वहीं अन्य सरकार की प्रक्रिया को भी इसका आधार मानते हैं। सरकार के वर्गीकरण के लिए अलग-अलग मापदंड होते हैं, जैसे उद्देश्य, विचारधारा, नीतियां, आदि। इसके अतिरिक्त सत्ता के प्रयोग का तरीका, सत्ता का क्षेत्रीय आधार पर विभाजन तथा सविधान की प्रकृति एवं कार्यपालिका की प्रकृति आदि भी आधुनिक वर्गीकरण के आधार हैं। इस योजना के अनुसार वर्गीकरण को तालिका में दर्शाया गया है:

पर किया जाता है। संसदीय व्यवस्था में विधायिका में दलीय सर्मथन के आधार पर कार्यपालिका उभरकर सामने आती है। जिस किसी राजनीतिक दल या गठबंधन का विधायिका मे बहुमत होता है, वही कार्यपालिका को नियंत्रित करता है। ब्रिटेन का प्रधानमंत्री एवं उसका मंत्रीमंडल इसके प्रमुख उदाहरण हैं– नव-स्वतंत्र राष्ट्रों में भारत, घाना, मिस्त्र तथा तंजानिया आदि संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाने वाले प्रमुख देश है।

दूसरी ओर, अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका एवं विधायिका अलग-अलग होते हैं।

क्र.सं.	*वर्गीकरण का आधार*	*प्रथम प्रकार*	*द्वितीय प्रकार*
1.	सत्ता के प्रयोग का स्वरुप व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता की दृष्टि से	लोकतांत्रिक	अलोकतांत्रिक/सत्तावादी
2.	कार्यपालिका का स्वरुप स्वतंत्रता की दृष्टि से	संसदीय	अध्यक्षात्मक/अध्यक्षीय
3	सत्ता का क्षेत्रीय विभाजन	एकात्मक	सघात्मक
4.	संविधान का स्परुप	(क) लचीला (ख) अलिखित	(क) कठोर (ख) लिखित

प्रायः वर्गीकरण की योजना में सरकार का लोकतात्रिक, अलोकतांत्रिक तथा तानाशाही होना, जनता के प्रति उत्तरदायी होने पर निर्भर है। जनता की सहभागिता की मात्रा लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था का प्रमुख आधार है।

संसदीय और अध्यक्षीय सरकारों का भेद विधायिका और कार्यपालिका के संबंधों के आधार इन दोनों संस्थाओं पर एक ही राजनीतिक दल का प्रभुत्व हो सकता है अथवा नहीं भी। अमेरिका, चिली एवं ब्राजील इस स्वरूप के उदाहरण है। ऐसा भी स्वरूप हो सकता है जिसमें दोनो प्रकार की शासन प्रणालियों के लक्षणों का मिश्रण हो। भारत एवं फ्रांस में ऐसी ही व्यवस्था है जहां राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री दोनों ही संस्थाएं विद्यमान हैं।

संघीय एवं एकात्मक सरकारों में भेद की पहचान क्षेत्रीय आधार पर सत्ता के केंद्र को लेकर की जाती है। जब पूरे भौगोलिक क्षेत्र पर एक ही सत्ता का केंद्र होता है तो इसे एकात्मक सांविधानिक व्यवस्था कहा जाता है। ग्रेट ब्रिटेन, चीन, चिली आदि ऐसी ही सरकार के उदाहरण हैं।

संघीय सांविधानिक व्यवस्था में सत्ता छोटे-छोटे टुकड़ों में अलग-अलग सरकारों में विभाजित होती है जो केंद्रीय सत्ता के अतिरिक्त होते हैं। इस प्रकार के संघ में दो स्तर पर सरकारे होती हैं– एक समस्त भौगोलिक क्षेत्र के लिए तथा दूसरी छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयों के लिए। भारत में ऐसी ही केंद्रीय सरकार एवं राज्यों की सरकारों से परिचित हैं। सरकार के ऐसे स्वरूप के अन्य उदाहरण हैं – अमेरिका, स्विट्ज़रलैंड, नाईजीरिया, ब्राजील तथा मलेशिया।

संविधान के विभिन्न प्रकारों जैसे कठोर एवं लचीला, लिखित एवं अलिखित की चर्चा पिछले अध्याय में की गई है।

इन सभी वर्गीकरणों को देखने के पश्चात हमें इस बात का ध्यान रखना होगा यह सभी एक व्यापक श्रेणियां है जिनके कार्यो की गहन समीक्षा की आवश्यकता है। विगत दो शताब्दियों में राजनीति तथा राजनीति विज्ञान में हुए विस्तृत तथा तीव्र परिवर्तनो ने, नई संस्थाओं तथा सिद्धांतो से अवगत कराया है।

सरकारों के कार्यो के अनुभवों ने भी सरकार के स्वरूपों की विवेचना को समृद्ध बनाया है। कुछ सरकार के स्वरूपों ने अपनी महत्ता खो दी है। दूसरों की अपनी बिगड़ी कार्यशैली पर ध्यान देने के लिए सुधारा गया है। नए सामाजिक, आर्थिक तथा भौगोलिक प्रसंगों ने भी अन्य तत्त्वों से परिचित किया है। हाल में हुए सरकार के स्वरूपों के वर्गीकरण कई कारणों से प्रभावित हुए हैं। सरकार के स्वरूपों के चार जोड़ों के कई वर्गीकरण एक-दूसरे में व्याप्त हैं। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि सरकारों के स्वरूप किसी एक निश्चित परिभाषित तथा विशिष्ट वर्गीकरण में नही आते हैं। जब हम विभिन्न सरकारो का मूल्यांकन करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि बहुत-से मिश्रित स्वरूप एक से अधिक लक्षणों के हैं।

हाल में "वर्गीकरण" को "प्ररूप-ज्ञान" (Typology) नाम से तथा सरकार एवं राज्य को "राजनीतिक *व्यवस्थाओं*" से बदला गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि राजनैतिक व्यवस्था शब्दावली में वे संबंध निहित हैं जो कि प्रक्रिया से संबंधित है। 1960 के बाद राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्ररूप-ज्ञान मे सरकारो के वर्गीकरण से अधिक, समाज में शक्ति वितरण को अन्तर्निर्हित किया गया है। उन्होंने संस्थाओं के संवैधानिक गठन के अतिरिक्त उनके वास्तविक कार्यकलापों पर भी अधिक बल दिया है। इस दिशा में हुए प्रयासों में एडवर्ड शिल्स, रार्बट ए. ढल, गैबरील ए. ऐलमंड, एस. एस. आइजनस्टैट तथा एरन्ड लिजफर्ट के नाम उल्लेखनीय हैं।

वर्गीकरण एवं तीसरी दुनिया की सरकारें

सरकारों के वर्गीकरण का, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, प्राथमिक रूप से विकास यूरोप तथा अमेरिका जैसे स्थायी एवं संपन्न समाजों में एक लंबे काल में हुआ। एशिया, अफ्रीका एवं

लातीनी अमेरिका के देश जिन्हे उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद स्वतंत्रता प्राप्त हुई है इस तरह के सुपरिभाषित सरकारों के वर्गीकरण के अनुरूप नहीं हैं।

ये नए स्वतंत्र हुए देश उन देशों के उपनिवेश थे जहां लंबे समय तक सरकार के अनेक स्वरूपों का विकास हुआ। इन औपनिवेशिक देशों में स्वतंत्रता से पहले ही सरकार के स्वरूप एवं संस्थाओं की जड़े विकसित हो चुकी थी। ऐसे भी उदाहरण हैं कि इन नव-स्वतंत्र देशों ने साम्राज्यवादी देशों की व्यवस्था को ही अपना लिया। यद्यपि उनकी परिस्थितियां साम्राज्यवादी देशों से भिन्न थी। परिणामस्वरूप सरकार का रूप तो वही रहा परंतु कार्यपद्धति बदल गई।

तीसरी दुनिया के देशों के वर्गीकरण के लिए जो दो प्रमुख आधार अपनाए गए हैं, वे हैं – सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीति एवं सरकार के ऊपर असैनिक/सैनिक नेतृत्व का नियंत्रण।

तीसरी दुनिया के देशों में सैनिक एवं असैनिक सत्ता के आधार पर अंतर किया जाता है। भारत, तंजानिया एवं आइवरी कोस्ट असैनिक सत्ता के उदाहरण हैं। ब्राजील, थाइलैंड, नाइजीरिया एवं म्यांमार सैनिक सत्ता के उदाहरण हैं। कुछ देशों में सैनिक एवं असैनिक सत्ता बारी-बारी से बदलती रही है, जैसे पाकिस्तान। सेना की भूमिका तीसरी दुनिया के अनेक देशों में विभिन्न परिस्थितियो के कारण महत्त्वपूर्ण हो गई है।

राज्य एवं सरकार का वर्गीकरण किसी भी दृष्टि से सरल नहीं है। वर्गीकरण के लिए अनेक शर्तो एवं आधारों का प्रयोग किया जाता है। राज्य एवं सरकार को उनके लक्षणों के अनुसार वर्गीकृत करना उपयोगी होता है। इससे उनके बीच समानता एवं असमानता को दिखाया जा सकता है। इस प्रक्रिया से राज्य एवं सरकारों की कुछ विशेषताएं भी स्पष्ट होती हैं।

लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक सरकारें

वर्तमान में लोकतत्र न केवल सरकार की एक अन्य प्रकार की व्यवस्था है बल्कि यह सर्वाधिक प्राथमिकता प्राप्त स्वरूप है। अधिकांश देशों को लोकतंत्र के आदर्शों की प्राप्ति बीसवीं सदी में हुई। जर्मनी में सर्वजनीन वयस्क मताधिकार (Universal Adult Franchise) 1919 में लागू किया गया, स्वीडन में 1920 में, फ्रांस में 1945 मे तथा ब्रिटेन में 1948 में। स्विट्ज़रलैंड में महिलाओं को मताधिकार 1971 में मिला। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में लोकतात्रिक आदर्शो की जड़े स्वतत्रता संग्राम के दौरान ही जम चुकी थी, जो इनकी संस्थाओं में प्रतिबिंबित होता है। लोकतंत्र का अंग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी' (Democracy) है। 'डेमोक्रेसी' शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' और 'क्रेशिया' का संयुक्त रूप है, जिसका अर्थ है 'लोगों की सत्ता'। लोकतंत्र के विभिन्न पक्ष ब्रिटिश अनुभव, फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी क्रांति एवं अक्तूबर क्रांति से प्रभावित हुए। ब्रिटिश सांविधानिक इतिहास वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं लोगों द्वारा नियंत्रित सरकार पर बल देता है। स्वतंत्रता तथा बंधुत्व के साथ-साथ समानता की अवधारणा फ्रांसीसी क्रांति का आदर्श बनी। अमेरिकी क्रांति ने इनके साथ सार्थक प्रतिनिधित्व को जोड़ दिया।

लोकतंत्र उपर्युक्त आदर्शों से संबंध रखता है। इसमें आदर्शो की प्राप्ति के लिए अपनाए जाने वाली प्रक्रियाओं की व्याख्या भी शामिल है।

लोकतंत्र केवल सरकार के स्वरूप तक ही सीमित नहीं, अपितु यह एक जीवन-शैली है। यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श है जिसका ध्येय मानव के पूर्ण विकास के द्वारा सामाजिक कल्याण की प्राप्ति है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति को अपने क्रियाकलापों के लिए पूर्ण और समान स्वतंत्रता प्राप्त हो और वह अनावश्यक प्रतिबंधों से मुक्त हो। लोकतंत्र ऐसी स्थिति निर्मित करने में सहायक होता है।

लोकतंत्र का सिद्धांत तीन मुख्य आदर्शो पर आधारित है : व्यक्तिगत अधिकार, स्वतंत्रता और समानता। लोकतांत्रिक सरकारें इन तीनो सिद्धांतों की सुनिश्चित व्यवस्था करती है। लोकतांत्रिक सगठन व्यक्ति को मूल इकाई मान कर इन तीनों सिद्धांतों पर बल देता है। समानता की अवधारणा व्यक्ति की आधारभूत समानता पर बल देती है। वय, जाति, शिक्षा या लिंग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव लोकतंत्र के आदर्शों के विरुद्ध है। समानता पर आधारित व्यक्ति के अधिकार एवं स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए, लोकतंत्र, सरकार के कार्यो में लोगो की सहभागिता को अनिवार्य मानता है।

वयस्क मताधिकार सहभागिता का सबसे प्रत्यक्ष रूप है, जिसके द्वारा सरकार बनती है और प्रतिनिधि चुने जाते हैं। लेकिन सहभागिता केवल यही तक सीमित नहीं है। अपितु इसका विस्तार सरकार द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया मे सहभागिता तक होना चाहिए। सरकार के संगठन और कार्यो पर लोगों का निरीक्षण और नियंत्रण होना चाहिए। सरकार के प्राधिकार को स्वीकार करने के साथ-साथ, व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता को भी सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त है।

अलोकतांत्रिक सरकार लोक-सहभागिता के सिद्धांत पर आधारित नहीं होती। अलोकतांत्रिक सरकार की संस्थाएं भी अपने कार्यो के लिए लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। अलोकतांत्रिक सरकारों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे हैं 'सत्तावादी', 'अधिनायकवादी' और 'सर्वसत्तात्मक' या 'सर्वाधिकारवादी'। इन तीनों अवधारणाओं में विद्यमान सामान्य लक्षण सत्ता के उपयोग एवं दुरुपयोग पर लोक नियंत्रण का अभाव है।

सत्तावाद

पहले अध्याय मे हमने पढ़ा है कि किसी भी सरकार के सही रूप में कार्य करने के लिए सत्ता आवश्यक है। सभी सरकारों के पास सत्ता तो होती ही है परंतु सत्तावाद का अर्थ होता है सरकार के प्रति 'लोक इच्छा' (Popular will) का न्यूनतम होना। सत्तावादी सरकार व्यक्ति एवं समूहों की गतिविधियों को सीमित करती है, विशेषकर उन मामलों में जो राज्य के विरोध में होते हैं। सरकार की निर्णय-शक्ति का नियंत्रण व्यक्तियों के एक छोटे समूह, एक परिवार, एक सामाजिक वर्ग या एक मजबूत राजनीतिक दल के हाथों में होता है। राजनीतिक संस्थाओं एवं उनकी कार्यप्रणाली के बारे में नागरिक कोई प्रश्न नहीं उठा सकते हैं। समाज को श्रेणीबद्ध या सोपानिक रूप में देखा जाता है जिसमें दल या

दल का नेता सर्वोपरि होता है। आज्ञा, आदेश एव निर्देशों का पालन सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) और भी कठोर प्रतिबंध लगाती है। ये प्रतिबंध प्राय. समाज के आमूल पुनर्गठन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लगाए जाते हैं। ऐसी सरकार के कार्यक्षेत्र में समाज की सभी गतिविधियां समाहित होती हैं। वस्तुतः लोगों के जीवन के सभी पक्ष सरकार के दायरे में आते हैं। ऐसी सरकार प्रायः निर्देश देती है और समाज की विभिन्न गतिविधियों, जैसे सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि को नियंत्रित करती है। समाज के सभी संगठन सरकार के अधीन होते हैं। एक विशेष विचारधारा से संदर्शित समाज के सभी पक्षों को देखने वाली सरकार में प्रायः एक ही राजनीतिक दल का वर्चस्व होता है। यह दल प्रायः एक ही व्यक्ति द्वारा संचालित होता है। यह विचारधारा समाज की अर्थव्यवस्था और दूरसंचार प्रणाली पर राज्य के नियत्रंण की पक्षधर है। नागरिकों की गतिविधियों पर पैनी नज़र रखने के लिए खुफिया पुलिस की व्यवस्था होती है। समाज को नियंत्रित करने के लिए सर्वाधिकारवादी सरकार शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों तरह के तरीके अपनाती है।

दूसरे शब्दों में, ऐसी सरकार को तानाशाही सरकार कहा जाएगा। अलफ्रेड कोबन के मत में "तानाशाही एक व्यक्ति द्वारा संचालित सरकार है जो वंशानुगत तरीके से सत्ता में नहीं आता अपितु 'बलप्रयोग' या 'सहमति' अथवा दोनों के आधार पर आता है। तानाशाह के पास निरंकुश संप्रभुता होती है जोकि मनमाने तरीके से चलाई जाती है।" इस प्रकार की सरकार राजनीतिक दल के द्वारा भी नियंत्रित की जा सकती है। यह तानाशाह के आदेश पर, असीमित शक्तियों के साथ बलप्रयोग पर भी आधारित होती है।

सर्वाधिकारवादी सरकार की तुलना मे, सत्तावादी सरकार मे परिवर्तन कहीं अधिक सहज व सरल होता है। हिंसात्मक व क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावना से भी कभी इंकार नहीं किया जा सकता। सत्तावादी सरकार लोकतंत्र में भी परिवर्तित हो सकती है। वहीं दूसरी ओर, सर्वाधिकारवादी सरकार मे परिवर्तन इतने सहज नहीं होते। परिवर्तन प्राय सरकार का तख्ता पलट देने या बलात् राज परिवर्तन के परिणामस्वरूप होते हैं।

सत्तावादी सरकार की कुछ विशेषताए होती हैं। यह शीघ्र ही निर्णय कर सकती है। यह कार्यदक्ष होती है और शक्तिशाली व स्थिर सरकार देती है। इस तरह का औचित्य प्रतिपादन प्रायः कुछ तृतीय विश्व के देशों के सैनिक शासकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सत्तावादी शासन में इतनी योग्यता भी होती है कि वह अपने देश के नागरिकों में उच्च स्तर तक देशभक्ति की भावना सुनिश्चित कर सके। वहीं दूसरी ओर, इस तरह की सरकार देश के शासन में किसी व्यक्ति विशेष को कोई महत्त्व नहीं देती। ऐसी सरकारो के पास कोई नागरिक या राजनीतिक अधिकार नहीं होते। बलप्रयोग पर आधारित होने के कारण, सत्तावादी सरकारों मे हिंसा का अधिक प्रयोग होने की सभावना बनी रहती है। ऐसी सरकारें अन्य देशों से सबंधो के संदर्भ में बल का प्रयोग करती हैं। इस तरह की

सरकारों की संस्थाएं जन-सहभागिता (जनता के सहयोग) पर आधारित नहीं होती और जनता के प्रति उत्तरदायी भी नही होती। उन पर जनता की राय का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इन देशो में दूसरे देशों की गतिविधियों और विचारों के प्रति कोई सहिष्णुता भी नहीं पाई जाती। इस तरह की सरकारें अंतर्राष्ट्रीय शांति को बनाए रखने में भी सहयोग नही देती।

सत्तावाद में शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। वास्तव में, लोकतंत्र भी सत्तावाद में बदल जाता है जब कुछ नेता अन्यों की तुलना मे अधिक सत्ता अथवा शक्ति पाने की कोशिश क़रते हैं। तृतीय विश्व में ऐसे बहुत-से देश है जहां सरकारो का रूप कभी लोकतंत्र और कभी सत्तावाद में बदलता रहता है। पाकिस्तान एक ऐसा ही देश है। वहां नागरिक (असैनिक) शासन की शुरूआत 1947 में हुई जो लगभग एक दशक चला। तत्पश्चात् वहां 13 वर्ष सैनिक शासन, पहले अयूब खॉ और बाद में याहया खाँ के नेतृत्व में चला। 1971 मे जुल्फीकार अली भुट्टों नागरिक शासन के अध्यक्ष बने। इसके बाद जनरल ज़िया-उल-हक 1977 में सत्ता में आए और उन्होंने 11 वर्ष तक शासन किया। नागरिक (असैनिक) शासन का अगला चरण 1988 में आरंभ हुआ था जिसे एक बार फिर सैनिक शासन में जनरल मुशर्रफ ने बदल दिया।

'लोकतांत्रिक' और 'सत्तावादी' गुण ऐसी विशेषताएं हैं जो राजनीतिक व्यवस्था और नेताओं में परिलक्षित होती हैं। अपने कार्य करने के तरीकों को लेकर नेता लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी सत्तावादी बन सकते हैं। लोकतांत्रिक देशों के इतिहास में भी कुछ ऐसे चरण रहे हैं जब राजनीतिक व्यवस्था में सत्तावादी प्रवृत्तियां अधिक मुखर हो गई थीं।

लोकतंत्र के रूप : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष

जनता द्वारा प्रत्यक्ष शासन लोकतंत्र का शुद्धतम रूप है जिसमें सभी लोग सरकार की गतिविधियों में भाग लेते हैं। प्लेटो के अनुसार यूनानी नगर-राज्यों में कुछ इस प्रकार की ही व्यवस्था थी। प्राचीन भारत में ग्रामीण गणराज्यों में जनता को प्रत्यक्ष भागीदारी प्राप्त थी। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता का प्रत्यक्ष निर्णय पाना अभी भी महत्त्वपूर्ण व विवादास्पद मुद्दों का एकमात्र हल समझा जाता है। जब ब्रिटेन में यूरोपीय आर्थिक समुदाय में प्रवेश का प्रश्न एक विवादास्पद मुद्दा बन गया तब इस मुद्दे का समाधान 'जनमत संग्रह' के द्वारा हुआ। इथोपिया की स्वतंत्रता का मुद्दा भी 1991 में जनमत सग्रह के द्वारा ही सुलझाया गया। महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त जनमत को अंतिम और न्यायसंगत लोकतांत्रिक निर्णय माना जाता है। स्विट्ज़रलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्य अपने संविधानों में प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक विधियों के उपयोग की सुविधा प्रदान करते हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र के सर्वमान्य रूप है–जनमत संग्रह (Refrendum), प्रस्तावाधिकार (Initiative), प्रत्याहवान, वापस बुलाना (Recall), लोकमत (Plebicite)।

जनमत संग्रह एक ऐसी प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जहां मुद्दों को जनता के समक्ष उनके विचार जानने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इसे दूसरे रूप में भी लिया जा सकता है जबकि

निर्णय विधायिका द्वारा लिए जाते हैं। लेकिन उन्हें लागू तभी किया जाता है जब जनता उस पर अपना मत व्यक्त कर देती है। एक ऐसा प्रावधान जो प्रायः सांविधानिक संशोधनों पर भी लागू किया जा सकता है।

प्रस्तावाधिकार ऐसी विधि है जो कुछ निर्दिष्ट लोगों के हस्ताक्षर द्वारा समर्थित किसी कानून या सांविधानिक संशोधन का प्रस्ताव रखती है। कुछ अवस्थाओं में सर्वप्रथम यह प्रस्ताव विधायिका को भेजा जाता है।

प्रत्याहवान की व्यवस्था में कुछ निश्चित मतदाता अपने द्वारा चुने गए प्रतिनिधियो को वापस बुलाने का प्रस्ताव रखते हैं और अंतिम निर्णय जनता की राय जानने के बाद लिया जाता है।

लोकमत संग्रह के द्वारा किसी महत्त्व के मामले में सीधे जनता से मत प्राप्त किया जाता है, लेकिन मुख्यतः यह कम या अधिक स्थायी राजनीतिक अवस्था को स्थापित करने के लिए किया जाता है। यह किसी नवीन राजनीतिक ढांचे के लिए भी हो सकता है, जैसा कि नेपोलियन बोनापार्ट ने 1799 में और फिर 1802 और 1804 में फ्रांसीसी राजनीतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका को परिभाषित और पुनः परिभाषित करने के लिए प्रयोग किया था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् स्वतंत्र हुए बहुत-से छोटे-छोटे देशो ने भी राजनीतिक व्यवस्था के किसी रूप विशेष को चुनने के लिए लोकमत संग्रह का इस्तेमाल किया। लोकमत संग्रह में किसी विषय पर लोग अपना निर्णय एक ही बार व्यक्त कर सकते हैं। जनमत संग्रह, प्रत्याहवान (वापस बुलाना) और प्रस्तावधिकार ऐसे साधन हैं जिनका निरंतर प्रयोग किया जाता है।

स्विट्ज़रलैंड में प्रत्यक्ष लोकतंत्र एक पुरातन परंपरा है। स्विट्ज़रलैंड के संविधान को प्रभावित करनें वाले सभी मामलो में जनमत कराए जाने का प्रावधान है जिसमें जनता तथा कैन्टनों के अधिसंख्यक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया जाता है। यदि किसी परिस्थिति में किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण मामले पर जिसमें कानून आवश्यक हो, कम से कम आठ कैन्टन या 30,000 मतदाता जनमत की मांग करें, तभी जनमत कराया जाता है। वैदेशिक संबंधों तथा संधियों में भी लोकप्रिय जनमत संग्रह आवश्यक रूप से कराया जाता है। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों पर आरभक, प्रस्तावधिकार का प्रावधान भी है। सांविधानिक संशोधन की मांग 50,000 मतदाताओ द्वारा ही की जा सकती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के 50 राज्यों का अपना-अपना संविधान है। उनमें से अनेक संविधानों में जनमत संग्रह, आरंभक या वापस बुलाने का प्रावधान है। 1898 में डकोटा के राज्य से शुरू करते हुए मिसीसिपी नदी के पश्चिम के अधिकांश राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था को अपनाया गया है। वापस बुलाने के अधिकार का प्रयोग तो कदाचित् ही होता है, जबकि जनमत संग्रह और आरंभक का इस्तेमाल अक्सर होता ही रहता है।

उपर्युक्त प्रावधानों को 'वास्तविक' एवं 'शुद्ध' लोकतंत्र के उदाहरण के रूप में देखा जाता है। इनके द्वारा जनता को राजनीतिक जागरूकता प्रदान करने तथा उसे लोकतांत्रिक ढांचे के प्रति

संतुष्ट रखने मे सहायता मिलती है। ये उपाय विधानसभा की कार्यव्यवस्था पर अकुश रखने में सहायता करते हैं। इन प्रावधानों के वास्तविक प्रयोग से उनकी कुछ कमियां उजागर हुई अर्थात् ये प्रावधान कुछ सीमाओं के अदर ही प्रभावशाली हैं। यूनान के छोटे नगर-राज्यों में सरकारी मामलो में सहभागिता केवल नागरिकों को ही प्राप्त थी और महिलाओं एवं गुलामों को इससे वंचित रखा गया था। आधुनिक समय में जहां राज्य, क्षेत्र व जनसंख्या दोनों ही दृष्टियों से बड़े होते हैं, प्रत्यक्ष लोकतंत्र संभव नहीं है।

स्विट्ज़रलैंड और अमेरिकी राज्यो मे भी देखा गया है कि जनसहभागिता कुछ लोगों तक ही सीमित है। यह भी विचारणीय है कि लोकतंत्र का प्रत्यक्ष रूप कठिनाइयो के समय (उदाहरण के तौर पर युद्ध के समय) स्वयं संकटो से घिर जाता है जबकि शीघ्र और प्रभावशाली निर्णय लिए जाने की आवश्यकता होती है।

आधुनिक समय में लोकतत्र को जनता द्वारा शासन का रूप समझा जाता है। जनता की ओर से कार्य करने के लिए लोगो के छोटे-छोटे समूहों को निर्वाचित किया जाता है। इसे 'प्रतिनिधित्व की व्यवस्था' कहते हैं। एडमंड बर्क के समय से ही उचित और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व लेखकों और दार्शनिकों के बीच विवाद का विषय रहा है। इस संबंध में कई प्रश्न पूछे जाते हैं, जैसे, किसका प्रतिनिधित्व किया जाए - एकल नागरिकों का, समुदायों का, भौगोलिक प्रदेश का, या कुछ व्यावसायिक समूहों का? प्रतिनिधियों की जनता के लिए जिम्मेदारी और जवाबदेही कैसे सुनिश्चित की जाए? इन प्रश्नों के उत्तर मे लोकतंत्र के लिए उपयुक्त, कुछ संस्थाओं और प्रक्रियाओं के विषय में सुझाव दिए गए हैं। अतः प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए एक नियमित अंतराल पर प्रतिनिधियों का निर्वाचन आवश्यक माना गया है।

लोकतांत्रिक सरकार के लक्षण

ऊपर वर्णित किए गए आदर्शों पर आधारित सरकार का लोकतांत्रिक स्वरूप स्वतंत्रता और समानता के मूलभूत सिद्धांतों को सुनिश्चित करता है। ऐसी सरकार आम जनता की स्वीकृति पर आधारित होती है। इसे जनमत के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार सम्मति या स्वीकृति को पाने और उसे प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार को एक निश्चित समय के लिए निर्वाचित किया जाता है। एक निश्चित अवधि के बाद आम चुनाव कराए जाते हैं, जैसे, ब्रिटेन और भारत मे हर 5 वर्ष के बाद। इस तरह के चुनाव सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत पर आधारित होते हैं जिसमें सभी वयस्क नागरिकों को चुनाव में भाग लेने का अधिकार है। अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव हर 4 वर्ष के अंतराल पर होते हैं।

हर व्यक्ति के मत का महत्त्व एकसमान होता है। स्वतंत्र और स्वच्छ चुनाव ही लोकतांत्रिक सरकार के निर्माण का आधार होते हैं। इस तरह निर्वाचित किए गए प्रतिनिधि ही देश के लिए कानून बनाते हैं, जो जनता के व्यापक हितों का ध्यान रखते हैं। निश्चित अवधि के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव ही इन्हें जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाता है। प्रत्येक व्यक्ति जिसे मतदान

का अधिकार है उसे चुनाव लड़ने का भी अधिकार है जिसके लिए आवश्यक योग्यताएं निर्धारित हैं। यद्यपि लोग अपना विचार मतों द्वारा प्रगट करते हैं। यह स्वाभाविक है कि चुनाव मे खड़े उम्मीदवारों तथा चुनावी मुद्दों के बारे में मतभेद हों। किसी निर्णय को लेते समय प्रतिनिधियों के बीच आपस में भी मतभेद संभव है। कुछ प्रतिनिधि एक विशेष विधान को समर्थन देंगे तो कुछ उसका विरोध भी करेंगे। बहुमत द्वारा समर्थित एक मत अथवा विचार ही स्वीकार्य होता है।

जैसे ही लोकतांत्रिक सरकार के चुनाव संपन्न होते हैं, अल्पसंख्यक जिन्होंने किसी मुद्दे के विरोध मे अपने विचार व्यक्त किए या निर्वाचित उम्मीदवार के विरोध में मत दिया, बहुमत द्वारा लिए गए निर्णय से बंध जाते हैं। दूसरी ओर जननीतियो के संदर्भ में लिए जाने वाले निर्णयों में अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोण को समुचित महत्त्व दिया जाता है।

बहुसंख्यक शासन को किस तरह निश्चित किया जाए? साधारण बहुमत सर्वाधिक व्यापक और मान्य व्यवस्था है, जिसमें सबसे ज्यादा मतो द्वारा समर्थित दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाता है। दूसरा तरीका जिसे कभी-कभी अपनाया जाता है वह है आनुपातिक प्रतिनिधित्व का। इस के अंतर्गत प्रत्याशियों को प्राप्त मतों के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। पूर्ण बहुमत प्राप्त करने के लिए आधे से अधिक मतों की आवश्यकता होती है। बहुमत का निर्णय करने वाली विभिन्न व्यवस्थाओं में साधारण बहुमत सबसे ज्यादा व्यापक रूप से स्वीकार्य व्यवस्था है।

ऊपर वर्णित लोकतांत्रिक सरकारों के मानदंडो के पालनार्थ सरकार का जनता के प्रति जवाबदेह व जिम्मेदार होना जरूरी है। सरकार की शक्तियों को सीमाबद्ध करने के लिए, लोकतांत्रिक पद्धति मे कुछ कानूनों व नियमों की व्यवस्था होती है जो अंतत. सरकार को कार्य करने के लिए दिशा-निर्देश देते हैं।

उपर्युक्त सिद्धांत व प्रक्रियाएं (जैसे स्वतंत्रता, समानता, नियमित अंतराल पर कराए जाने वाले स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, समान अवसर, बहुमत का शासन, इत्यादि) देश के मूलभूत कानूनों में वर्णित होती है और सरकार अपनी मनमानी से उनकी अवहेलना नही कर सकती। यह मूलभूत कानून प्राय· संविधान के रूप में व्यक्त किए जाते हैं। लेकिन ये सामाजिक परंपराओं और सुस्वीकृत परिपारियों के रूप में भी हो सकते हैं।

प्रबलताएं एवं दुर्बलताएं

आधुनिक समय मे सरकार का लोकतांत्रिक रूप राजनीतिक सोच का एक भाग बन चुका है। लोकतांत्रिक सरकार के रूप की प्रबलता एवं दुर्बलता का वर्णन करना आवश्यक है ताकि इसके क्रियाकलापों, अपेक्षाओं और सीमाओं को अच्छी प्रकार से समझा जा सके।

सरकार का मुख्य लक्ष्य शासक और शासितों के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना है। इसके लिए जो साधन अपनाए गए हैं वे इस बात को दर्शाते हैं कि सरकार, जनता की स्वीकृति से सत्ता में आई है और इसे (जनता को) नियमित अंतराल पर सरकार की कार्यव्यवस्था पर पुनःविचार करने का भी अवसर होगा। यदि सरकार में कोई

त्रुटि हो तो जनता उसे सत्ता से हटा सकती है। यही बात सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाती है। ऐसे में लोग स्वेच्छा से सरकार के आदेशों को मानते हैं जिससे सरकार को स्वाभाविक रूप से वैधता प्राप्त हो जाती है।

लोकतंत्र में सभी लोगों को समान माना जाता है। यह नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांत को मानता है, जिसमें जनसाधारण को समान अधिकार और समान अवसर प्रदान किए जाते है। जन-सहभागिता राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं को समझने का अवसर प्रदान करती है। यह जनता की अधिकाधिक भागीदारी को सुनिश्चित करती है। ऐसी प्रक्रिया में, जनता न केवल सरकारों अथवा संस्थाओं, बल्कि अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में भी अधिक शिक्षित एवं जागरूक होती है। "लोकतंत्र अपने नागरिकों को सर्वाधिक प्रभावशाली प्रशिक्षण देता है। जनता में स्वयं को शासन करने की क्षमता से होने वाला विश्वास प्रत्येक व्यक्ति में गरिमा एवं आत्मसम्मान उत्पन्न करता है।" यह उनके व्यक्तित्व को भी बल प्रदान करता है। इससे जनता में सहयोग और अपनेपन का भाव आता है। अंततः यह राजनीतिक व्यवस्था को सफलता एवं एकता प्राप्त कराने में सहायक होता है। जे.एस. मिल के अनुसार, "यह किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की तुलना में अधिक अच्छे और उच्च स्तर के राष्ट्रीय चरित्र को उन्नत करता है।"

लोकतांत्रिक प्रक्रिया सरकार को जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और मांगों के प्रति संवेदनशील बना देती है। लोकतांत्रिक सरकार जनहित और जनकल्याण हेतु अपनी कार्यव्यवस्था को सरल बनाने के लिए सदैव जागरूक रहती है। निर्वाचन के लिए जनता के सभी वर्ग महत्त्वपूर्ण होते है। लोकतांत्रिक सरकार जनता के कल्याण के प्रति अधिक संवेदनशील होती है। इससे सरकार को उस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता मिलती है जिसे बैंथम ने "अधिकतम लोगों का अधिकतम भला" कहा है।

समाज एवं सरकार दोनों को, एक-दूसरे से तालमेल बनाए रखना चाहिए। लेकिन दोनों में ही विभिन्न प्रकार और विभिन्न आयामों वाले परिवर्तन हो सकते हैं। समाज निरंतर परिवर्तनशील है जहां नवीन शक्तियां, नवीन विचार और नए समूह, पुराने को बदलने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। ये शक्तियां प्रायः वर्तमान सरकारी रूप में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव करती हैं। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में चुनाव के दौरान सामान्य तरीकों में सहज परिवर्तन लाने की व्यवस्था होती है और कभी-कभी स्वीकृत मानदंडो की परिधि में रहते हुए अधिक गंभीर परिवर्तन भी लाए जा सकते हैं। इस तरह, विभिन्न राजनीतिक दल शक्ति के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। यह संघर्ष एक ही दल के सदस्यों के बीच भी चलता रहता है। निर्वाचित संस्थाएं और प्रतिनिधि, परिवर्तनशील सामाजिक शक्तियों के प्रति संवेदनशील रहते हैं और सरकार को अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में परिवर्तन को दर्शाने के लिए प्रेरित करते हैं। लोकतांत्रिक सरकार आवश्यकता पड़ने पर स्वयं को आसानी से परिवर्तनशील स्थितियों के अनुकूल बना लेती है। वैधता के स्तर एवं परिवर्तनों के प्रति अनुकूलन क्षमता, दोनों ही लोकतांत्रिक सरकार को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

सरकार के लोकतांत्रिक रूप में कुछ दुर्बलताएं भी पाई जाती हैं। सभी लोगों को समान मानने के कारण ऐसी सरकार व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा को पहचानने में असफल रहती है। यह गुणवत्ता की अपेक्षा मात्रा पर अधिक बल देती है। वास्तव मे लोकंतत्र एक उत्तम शासन नहीं बल्कि एक सामान्य शासन है।

सरकार की व्यवस्था हमेशा समाज में उत्पन्न दबावों और जवाबी दबावों से प्रभावित होती रहती है। सरकार के लिए इस बात की भी संभावना रहती है कि वह अधिक योग्य निर्णयों की तुलना मे अधिक लोकप्रिय निर्णयों को ही अपनाए। समाज के विभिन्न वर्ग के अपने हितों और वरीयताओं में भी भिन्नता होती है। संघर्षपूर्ण स्थितियों और सघर्षो के दौरान, सरकार द्वारा लिए गए निर्णय समाज के विभिन्न वर्गो की इच्छा अनुरूप नहीं होते। सरकार कुछ ऐसे निर्णय भी ले सकती है जिन्हें व्यापक स्तर पर लोगों का समर्थन नहीं मिल पाता। इस तरह की परिस्थितियों का सामना करते हुए लोकतांत्रिक सरकार, जो जनता के मतों पर निर्भर होती है, आसानी से लोकप्रियवाद के इस वेग में बह जाती है कि उसके निर्णय जनता को स्वीकार्य है अथवा नहीं।

चुनावी प्रक्रिया लोकतांत्रिक सरकार के गठन के लिए आधार प्रदान करती है। लेकिन उसकी वास्तविक कार्यव्यवस्था में कई कठिनाईया आती हैं। वह व्यक्तियों के बीच समानता के अधिकार की अवधारणा पर आधारित है। परंतु यह व्यंवस्था हर समाज में संभव नहीं है। विभिन्न प्रकार की असमानताएं समाज में विद्यमान हो सकती हैं जिनमें से कुछ अवश्यंभावी होती हैं। आर्थिक रूप से संपन्न लोगों का चुनावी प्रक्रिया पर दबदबा रहता है। अमीरों का हित गरीबों के हित को प्रभावित करता है। आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति और धर्म, जाति तथा लिंग पर आधारित असमानताएं चुनावी प्रक्रिया को सही ढंग से संपन्न कराने मे बाधक होती है।

चुनाव के संदर्भ में जनमत नियत्रंण की प्रक्रिया एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है। चुनाव के संदर्भ में जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, वह है जनमत को काबू करने की कोशिश। प्रचार के साधन जैसे प्रेस, रेडियो और टेलीविजन जनमत निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन सभी प्रचार साधनों पर आर्थिक रूप से प्रभावी लोगों का ही नियंत्रण होता है। अनेक परिस्थितियों में सत्तारूढ़ सरकार का इन सभी साधनों पर नियंत्रण होता है। जनमत, जो अंततोगत्वा चुनावी व्यवस्था में परिलक्षित होता है, वह इन सभी साधनों का मिला-जुला परिणाम है। हित समूह और दबाव समूह भी इसमे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनता में उत्तेजना फैलाने वालों की भूमिका जनमत की दिशा बदलने में महत्त्वपूर्ण होती है।

ऊपर चर्चित शासन व्यवस्था, डी. टोक्योवेली के अनुसार, कभी-कभी 'बहुसंख्यक निष्ठुर शासन' के रूप में बदल जाती है। साधारण चुनावों अथवा लोकतांत्रिक संस्थाओं जैसे विधायिका द्वारा किए गए निर्णयो को प्रभावित करने में कुछ अल्पसंख्यक प्रायः असफल रहते हैं। सरकार, जो सत्ता में आती है अंततः बहुमत का ही प्रतिनिधित्व करती है। साधारण बहुमत व्यवस्था के अंतर्गत, विधायिका में किसी एक पार्टी की अधिकांश सीटे अल्पमत के आधार पर भी आ सकती है।

1952 से हुए किसी भी चुनाव में कांग्रेस पार्टी को पूर्ण बहुमत अर्थात 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं हुए। समर्थन में प्राप्त मतों की संख्या का अंतर 1998 में 25.8 प्रतिशत से 1984 में 49.10 प्रतिशत रहा। फिर भी पार्टी स्वतंत्रता से 45 वर्षो तक केद्र में सत्तारूढ़ रही। ऐसा कहा जा सकता है वह अल्पमत समर्थन से सत्ता में रही। प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सरकार में उसी दल को पूरे देश के लिए निर्णय लेने का अधिकार है जिसे चाहे अल्पमत से ही सही, सदन में बहुमत सीटों पर नियंत्रण प्राप्त है।

साधारण बहुमत व्यवस्था में जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक वोट मिलते हैं, वह विजयी घोषित होता है। यदि एक चुनाव क्षेत्र से कई प्रत्याशी हों तो मतों के विभाजन के कारण कुल मतों में से 50 प्रतिशत से कम मत प्राप्त करने वाला भी विजयी हो जाता है। इस प्रकार अल्पमत प्राप्त करने वाला प्रत्याशी विधायिका के लिए निर्वाचित हो जाता है। और यदि ऐसी स्थिति बहुत-से चुनाव क्षेत्रों की हो तो, वही उम्मीदवार विधायिका में पहुंच जाते हैं जिनको वास्तव में अल्पसंख्या में मत प्राप्त हुए हों।

चुनावी प्रक्रिया और लोकतांत्रिक संस्थाएं मंहगी सिद्ध हो रही हैं। आम चुनावों का (जिसमें अधिकाधिक लोगो की भागीदारी होती है) खर्च उठाने के लिए राज्य को काफी बड़ी रकम जुटानी पड़ती है। भारत में पंजीकृत मतदाताओं की संख्या जो कि 1952 में 173,213,635 थी वह 1998 में बढ़कर 60,58,84,103 हो गई। 1984 के आम चुनावों में कुल 4,79,012 मतदान केंद्रो पर चुनाव हुए, जिसके प्रबंध में 23,95,676 सरकारी कर्मचारियों ने अपनी सेवाएं दीं। 1999 के लोकसभा चुनाव में कुल 8 लाख मतदान केंद्रों पर लगभग 45 लाख कर्मचारियो ने भाग लिया। जब चुनाव इतने बड़े पैमाने पर होता है, तो चुनावी खर्च भी उसी अनुपात में होता है। 1984 में भारत सरकार ने 20 राज्यों के चुनाव हेतु 856 करोड़ रुपए व्यय किए, उसी प्रकार 1989 के आम चुनाव पर सरकार के लगभग 154.22 करोड़ रुपए खर्च हुए। यदि चुनाव के बाद किसी भी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो चुनाव पुनः करवाने पड़ सकते हैं। भारत में सन् 1996 में आम चुनाव कराए गए, किंतु सरकार के स्थायी न होने के कारण पुनः चुनाव सन् 1998 और फिर 1999 में कराए गए। भारत में हर पांच वर्ष के अंतराल पर संसद के आम चुनाव, विधानमंडलों के आम चुनाव, तथा कुछ अन्य चुनाव,जैसे स्थानीय संस्थाओं के चुनाव (नगर निगम, नगर परिषद् और ग्राम पंचायत आदि) कराए जाते हैं। इन सभी चुनावों पर जो खर्च होता हैं वह देश के सीमित साधनों पर बोझ बन जाता है।

जनमत द्वारा चुने गए नेताओ का सरकारी संस्थाओं पर नियंत्रण होना इस बात का परिचायक है कि प्रशासन ऐसे लोगों के हाथ में आ जाता है जो इस कार्य में नौसिखिए होते हैं यानी निपुण नहीं होते, जबकि आधुनिक राज्यों में सरकारी निर्णयों को लेते समय कुछ विशेष ज्ञान तथा कानूनी व्यवहार की जानकारी होना आवश्यक होता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहां तकनीकी तथा प्रशासनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निणर्यो को भी लोकहित का ध्यान रखते हुए ताक पर रख दिया जाता है। कभी-कभी लोकतांत्रिक

व्यवस्था पर यह आरोप लगाया जाता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था योग्य और सफल सरकारी व्यवस्था प्रदान करने में असफल रहती है।

सफल लोकतंत्र की आवश्यक शर्तें

लोकतांत्रिक सरकार का गठन लोगों की सामूहिक भागीदारी से होता है। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि लोगों में समाज के लिए 'वांछनीय' और 'अवांछनीय' में भेद करने की योग्यता हो। राज्य की गतिविधियों का व्यावहारिक ज्ञान एवं चेतना सदा लाभप्रद होती है।

महान राजनीतिक विचारक जेम्स स्टुअर्ट मिल द्वारा लोकतंत्र की सफलता हेतु कुछ शर्तें निश्चित की गई हैं। उनके अनुसार, लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि लोगों में लोकतांत्रिक सरकार पाने की योग्यता एवं उसके प्रति पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। लोकतंत्र पर संकट के समय लोगों को इसके बचाव के लिए तत्पर रहना चाहिए। नागरिकों के लिए कर्तव्यपालन भी आवश्यक है।

नागरिकों का चुनावी प्रक्रिया मे भाग लेना महत्त्वपूर्ण है पर साथ-ही-साथ लोकतांत्रिक सरकार के कार्यचालन में भी नागरिकों की रुचि बनी रहनी चाहिए। चुनाव एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें राजनीतिक दलों तथा हित समूहों की संस्थाओं के निर्णयों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। चुनाव के लिए प्रत्याशियों का चयन संघर्ष बहुत-से उम्मीदवारों के बीच होता है। प्रत्याशी और दल, दोनों ही अपने प्रचार के माध्यम से यह कोशिश करते हैं कि उन्हें मतदाताओं का अधिकाधिक समर्थन प्राप्त हो। मतदाता आपस में उम्मीदवारों के गुणों और दोषों की तुलनात्मक चर्चा करते हैं। यह सारी प्रक्रिया चुनाव से पहले होती है। इस बात की आवश्यकता है कि इन संपूर्ण कार्यकलापों में सारी जनता खुलकर हिस्सा ले।

यद्यपि चुनाव कुछ विशेष प्रक्रियाओं की पराकाष्ठा है, तथापि उससे कुछ अन्य प्रक्रियाओं का प्रारंभ भी होता है। प्रतिनिधि चुने जाने के बाद, निर्णय लेने के लिए संस्थाएं बनती है। एक जागरूक जनमत, निर्णयो का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है। विशेष मुद्दों पर अपना सुझाव देकर सभी निर्णयों को समाज के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसे निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में तथा उनकी विषय-वस्तु और उनके परिणामों के बारे में लोगों को विशेष रुचि लेनी चाहिए। इस प्रकार रुचि दिखाने से निर्णय लेने वाली संस्थाओं को लोगों की आवश्यकताओं और मांगों के प्रति सचेत रहना पड़ता है। इस तरह के निर्णय लोगों को मान्य होते हैं। इसलिए नहीं कि उन्हे सरकार लागू करती है, बल्कि इसलिए कि उन्हें स्वीकृत निर्णय और उनके प्रभाव की समझ होती है।

लोकतांत्रिक सरकार के लिए आवश्यक है कि लोगों में अधिकारो एवं कर्तव्यों के प्रति उच्चस्तरीय चेतना एवं जागरूकता हो। सरकार को चुनने का अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस अधिकार में सरकार बदलने का अधिकार भी शामिल होता है। इसके अतिरिक्त, नागरिकों को और भी अधिकार दिए गए हैं जो बहुत व्यापक हैं, जिन पर नियंत्रण की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, नागरिकों को यह अधिकार है कि वह सरकार और इसके द्वारा लिए गए निर्णयों का विरोध कर सकते हैं। नागरिकों को कई प्रकार की

स्वतंत्रता के अधिकार भी दिए गए हैं। लेकिन इन अधिकारों का प्रयोग काफी सतर्कता और संयम के साथ होना चाहिए।

यह भी आवश्यक है कि नागरिक अपने कर्तव्यों और दायित्वो के प्रति सजग रहें। चूंकि अधिकार और दायित्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक व्यक्ति का अधिकार तभी सुनिश्चित होगा जब दूसरा व्यक्ति अपने दायित्वों का पालन करे। चूंकि लोकतांत्रिक सरकार नागरिकों को अधिक अधिकार देती है, अतः वह नागरिकों से यह भी अपेक्षा करती है कि नागरिक अपने कर्तव्यों का भी पालन करें। नागरिकों के कुछ ऐसे कर्तव्य हैं, जिन्हें अवश्य पूरा किया जाना चाहिए, जैसे, मत देने का कर्तव्य, जो नागरिकों को अपना प्रतिनिधि चुनने के अधिकार का पर्याय है। चुनाव एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार पर जनता का नियंत्रण रखा जा सकता है।

नागरिकों द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन किए जाने के लिए यह आवश्यक है कि लोकतंत्र में नागरिक अपने विचार स्वतंत्रता से व्यक्त कर सकें। चुनाव के समय नागरिकों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपना मत अपनी इच्छानुसार दें। व्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र का आधार है। ऐसा समाज जिसमें आर्थिक एवं सामाजिक असमानता व्याप्त हो, वहां लोकतंत्र का चलना कठिन होता है।

जैसे-जैसे चुनावी प्रक्रिया महंगी होती जा रही है, वैसे-वैसे इस बात की सभावना बढ़ती जा रही है कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोग ही चुनाव लड़ पाएंगे। समाज के ऐसे लोग जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं, उन पर आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोगों का वर्चस्व होता है और गरीबों की प्राथमिकताएं अमीरों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। भारत में इसी तरह का प्रभुत्व छोटी जातियों पर बड़ी जातियो का होता है। सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोगों का समाज में वर्चस्व रहता है, जो दूसरों की इच्छाओं को प्रभावित करता है। भारतीय जनसंख्या का बहुत बड़ा वर्ग जो गरीब है और जिसे समाज मे 'निम्न स्थान' प्राप्त है, अपने अधिकारों का आसानी से प्रयोग नहीं कर पाता। लोकतांत्रिक सरकार की गतिविधियो/कार्यो में सामाजिक-आर्थिक विकास का स्तर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज में जितनी अधिक असमानता होगी, लोकतांत्रिक रूप से कार्यचालन में भी उतनी ही कठिनाई होगी। सामाजिक-आर्थिक विकास का स्तर लोकतांत्रिक सरकार द्वारा क्रियान्वयन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्धारित करता है।

लोकतंत्र, चुनाव एव अपनी कार्यव्यवस्था में बहुमत के नियम का पालन करता है। चुनाव में बहुमत प्राप्त करने वाला प्रत्याशी एवं दल सत्ता प्राप्त करता है। विधायिका में निर्णय लेते समय बहुमत के नियम का पालन किया जाता है। यह प्रक्रिया समाज में बहुसंख्यक वर्ग को प्राथमिकता देती है। परंतु लोकतंत्र को एक प्रकार का समन्वय स्थापित करना पड़ता है जिसके आधार पर वह राज्य के क्रियाकलापों का संचालन कर सके। उसे सिर्फ बहुसंख्यकों की इच्छाओं का ही नहीं, अपितु अल्पसंख्यकों के हितों का भी ध्यान करना पड़ता है। वस्तुतः लोकतंत्र को अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। लोकतंत्र के लिए अल्पसंख्यकों के अधिकारों का परिरक्षण एवं संरक्षण आवश्यक है।

किसी भी दल के लिए यह आवश्यक है कि उसके विचारों में सहिष्णुता हो और उसका अपना दृष्टिकोण और सिद्धांत हो। विभिन्न विचार और आदर्श, समाज से ही उपजते है। सहिष्णुता दो विरोधी दलों के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना को जन्म देती है और इससे लोकतंत्र मजबूत होता है।

लोकतंत्र अल्पसंख्यकों को चुनाव संबंधी महत्त्वपूर्ण स्थान देता है, भले ही उन्होंने अपने मताधिकार का प्रयोग सतासीन दल के पक्ष में न किया हो। ऐसे अल्पसंख्यकों का न केवल आदर किया जाता है बल्कि उनके हित और विचारो का ध्यान रखा जाता है। विपक्षी दल और उनके नेताओं का भी लोकतंत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वस्तुतः संसदीय व्यवस्था में, जो दल अपने आप या दूसरी पार्टियो से गठजोड़ कर के बहुमत प्राप्त करते हैं, उनका ही सरकार पर नियंत्रण होता है। विधायिका में कुछ राजनीतिक दलों के ऐसे सदस्य जो अल्पमत में एवं सत्ताािवहीन होते हैं, विपक्ष का निर्माण करते है। वे सत्ता पक्ष में नहीं होते, विपक्ष में बैठते हैं। वे सत्ताधारियो की गतिविधियों पर हमेशा नजर रखते हैं। वे प्रश्न पूछने के साथ-साथ वैकल्पिक सुझाव भी देते हैं। चुनाव में इस बात की संभावना हमेशा रहती है कि जो दल सत्ता में नहीं है उसे अगले चुनाव में बहुमत मिल जाए। विपक्ष को ऐसी स्थिति में होना चाहिए कि यथासमय वह सरकार बना सके। भारत और इंग्लैंड जैसे देशों में, विपक्ष और उसके नेता की, संसद की कार्यवाही में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विपक्ष, सरकार की कार्यव्यवस्था पर विशेष निगाह रखता है। विपक्ष के अभाव में लोकतंत्र किसी एक व्यक्ति या दल की तानाशाही बन सकता है।

जनसाधारण की भागीदारी में विरोधाभास और तीसरी दुनिया के देश

सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप और उसकी कार्यव्यवस्था को बनाए रखने के लिए उसमें लोगों की भागीदारी आवश्यक है। इस तरह की भागीदारी को कायम रखने के लिए लोकतंत्र कुछ विशेष साधन उपलब्ध कराता है, जैसे चुनाव, मताधिकार और दबाव समूह। हालांकि पूरी लोकतांत्रिक प्रक्रिया इस पर आधारित है फिर भी जनसाधारण की भागीदारी सरकार के संचालन में कुछ समस्याएं पैदा कर सकती है। एक तरफ तो जनता के कुछ वर्गो का उदासीन होना तो दूसरी ओर कुछ वर्गों का अधिक सक्रिय होना भागीदारी की एक समस्या है। भागीदारी के इन दोनों पक्षों की चर्चा नीचे की गई है।

कोई भी लोकतांत्रिक समाज राज्य की गतिविधि में शत-प्रतिशत लोगों की भागीदारी, सुनिश्चित नहीं कर सकता। उसमे जो लोग भाग लेते हैं उन सब की भागीदारी कदाचित् ही बराबर होती। यदि हम भागीदारी का बहुत स्पष्ट रूप, जैसे चुनावों में मत देने के अधिकार को लें, तो पाएंगे कि बहुत पुराने और विकसित लोकतंत्र में भी मत देने वालों का प्रतिशत बहुत अधिक नहीं होता है। यदि हम मतदाताओं का औसत देखें तो पाएंगे कि इंग्लैण्ड में 74 प्रतिशत, अमेरिका में 59 प्रतिशत और स्विट्रज़रलैण्ड में 53 प्रतिशत लोगों की भागीदारी होती है। भारत मे लगभग 60 प्रतिशत लोगों की भागीदारी होती है।

भागीदारी न होने के बहुत से कारण हो सकते हैं। असमानता के कारण एक ऐसी स्थिति

पैदा हो जाती है जिसमें कम आय वाले लोग या निम्नवर्गीय लोग हमेशा अपने आप को उस स्थिति मे नही पाते जहां वे अपनी इच्छाओं या आकांक्षाओ को व्यक्त कर सकें। ऐसे वर्ग अपने आप को उस भागीदारी प्रक्रिया से अलग रखते हैं क्योंकि उन्हें महसूस होता है कि उनकी भागीदारी का कोई महत्त्व नहीं है, इसलिए कि अन्ततः परिणाम प्रभावशाली लोगों के पक्ष में ही होगा। कभी-कभी लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति अविश्वास भी पैदा होता है। जब ऐसा महसूस होता है कि वह उनके प्रति उत्तरदायी नहीं है और उनकी भागीदारी से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता तथा उनके वोट का कोई महत्त्व नहीं होता। मुद्दों के बारे में जानकारी की कमी या फिर भागीदारी के प्रति उदासीनता लोगों के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि वे यह निर्णय नहीं ले पाते कि किस उम्मीदवार या दल, मुद्दे, कार्यक्रम या विचारधारा का समर्थन करें। इसलिए भाग न लेने वाले लोग विभिन्न कारणों से जनसंख्या के विभिन्न वर्गो में बंटे हुए हैं। ये सारे समुदाय वस्तुतः पूर्ण रूप से अलग समुदाय नहीं हैं अपितु एक-दूसरे से मेल खाते हैं, वे एक-दूसरे से मिले हुए है। इन समुदायों के अतिरिक्त हर समाज मे कुछ राजनीतिक समुदाय भी होते हैं जो आमूल परिवर्तन के पक्षधर होते हैं लेकिन तात्कालिक सरकार से असहमत होने के कारण अपने आप को लोकतांत्रिक भागीदारी से दूर रखते हैं।

भागीदारी करने वाले समूहों की भागीदारी की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। सबसे न्यूनतम स्तर पर, ऐसे लोग आते हैं जो केवल चुनाव के दौरान अपने मत का प्रयोग करते हैं। यह भी संभव है कि चुनावी प्रक्रिया मे उनकी भागीदारी बिल्कुल न हो और उन्हे मुद्दो, दलों और उम्मीदवारों के बारे में भी कोई जानकारी न हो। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो न सिर्फ मतदान करते हैं बल्कि राजनीतिक दलों की गतिविधियों में भी हिस्सा लेते हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो उम्मीदवारो के पक्ष या विपक्ष मे भी काम करते हैं। कुछ चुनावी मैदान में उम्मीदवार के रूप मे हिस्सा लेते हैं। यदि हम दलों की गतिविधियों, दबाव समूहों और हित समूहों के संदर्भ में भागीदारी की बात करें तो हम देखेंगे कि जिन लोगों की भागीदारी इन समूहों मे होती है, उनकी संख्या और भी कम है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भागीदारी के अलग-अलग स्तर हैं।

भागीदारी का अभाव लोकतंत्र के लिए समस्या का केवल एक भाग है। बहुत अधिक लोगो की भागीदारी भी समस्या का कारण बन जाती है। समाज विभिन्न समुदायों का सम्मिश्रण है, जिनके अलग-अलग हित होते हैं। जो समुदाय भाग लेता है वह अपने हितों को बढ़ाता है और सरकार से अपेक्षाएं रखता है। सरकार पर इस प्रकार के कई दबाव हो सकते हैं और वह उन्हें संतुष्ट करने में असमर्थ हो सकती है। ऐसी स्थिति में भागीदारी करने वाले को अनुभव हो सकता है कि उनकी आशाओं को पूरा नहीं किया गया। भागीदारी करने वाले समूहों के संदर्भ में सरकार को ऐसे कदम उठाने की आवश्यकता हो सकती है जो विभिन्न समूहों और मांगों के बीच सामंजस्य रख सके तथा उन पर नियंत्रण स्थापित कर सके। प्रायः ऐसे कदम तानाशाही प्रवृत्ति का प्रारंभ होते हैं। तीसरी दुनिया के बहुत-से देश 'भागीदारी विस्फोट' के प्रति असहाय होने के कारण सैनिक शासन में परिवर्तित हो गए।

गैर-भागीदारी और अधिक भागीदारी का मुद्दा, बहुलवादी (प्लूरलिस्ट) रॉबर्ट ए. डाल, डेविड ऐप्टर और एरेन्ड लिज़फार्ट के लिए चिंता का मुख्य विषय रहा है। इन बहुलवादियों को दो वर्गो में विभाजित किया गया है : उदार बहुलवादी और उग्र बहुलवादी। उदार बहुलवादी सत्ता में प्रभावशाली सहभागिता भागीदारी के पक्षधर हैं और लोकतंत्र को सुनिश्चित करने के लिए समाज के विभिन्न समूहों के बीच पारस्परिक सक्रियता एवं प्रतियोगितापूर्ण केंद्रों की वकालत करते हैं। रॉबर्ट ए. डाल. की *पॉलिआर्की* (बहुतंत्र) अर्थात् 'अनेक का शासन' लोकतांत्रिक शृंखला की एक कड़ी है। इस तरह के विचार और व्यवस्था स्थिर समाज के विश्लेषण पर आधारित है। तीसरी दुनिया के ऐसे समाज जहां अत्यधिक वर्ग विभाजन और विरोध है, वहां ऐसा विश्लेषण युक्तिसंगत नहीं होता।

उग्र बहुलवादी किसी भी तरह से लोगों और सरकार के बीच मध्यस्थता पर विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार लोगों की सीधी और प्रभावशाली भागीदारी ही इस समस्या का समाधान है। छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयो को व्यवस्थित कर लोगों की सीधी भागीदारी सुनिश्चित होने पर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। युगोस्लाविया में फैक्ट्री स्तर पर, तंजानिया के उजम्मा गांव तथा स्वीडन के आटोमोबाइल उद्योग में श्रमिक-समूहों द्वारा स्वयं प्रबध संभालने के प्रयोग इस के उदाहरण हैं। भारत में तृणमूल स्तर पर प्रयासों की अवधारणा, प्रभावशाली सहभागिता के समाधान की इस श्रेणी में आती है।

अतः सरकार का लोकतांत्रिक स्वरूप, जिसका आदर्श तथा उद्देश्य उत्तम हो, कोई सरल विकल्प नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण है कि ऐसी व्यवस्था को पूर्ण सतर्कता के साथ तैयार कर उसके सफल क्रियान्वयन को सुनिश्चित किया जाए।

अभ्यास

1. सरकारों के वर्गीकरण की किन्हीं दो समस्याओं का उल्लेख कीजिए।
2. सरकारों के संबंध में अरस्तू के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए।
3. अरस्तू के अनुसार सरकार के तीन विकृत प्रकार कौन-कौन से हैं? उसने इन्हें विकृत क्यों कहा?
4. सरकार के आधुनिक वर्गीकरण का उल्लेख सोदाहरण कीजिए।
5. लोकतांत्रिक व अलोकतांत्रिक सरकार में विभेद कीजिए।
6. सत्तावादी सरकार के दो-दो गुणों व अवगुणो का उल्लेख कीजिए।
7. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में विभेद कीजिए।
8. ऐसे चार साधनों का वर्णन कीजिए जो वर्तमान अप्रत्यक्ष लोकतंत्र को प्रत्यक्ष लोकतंत्र के निकट ला देते हैं। क्या भारतीय संविधान में ऐसा कोई साधन उपलब्ध है?
9. लोकतांत्रिक सरकार के लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
10. लोकतांत्रिक सरकार की प्रबलताओं व दुर्बलताओं के दो-दो बिन्दुओं का उल्लेख कीजिए।
11. लोकतंत्र के सफल संचालन की अनिवार्य शर्तों की व्याख्या कीजिए।

अध्याय 7

सरकार के रूप संगठनात्मक एवं क्षेत्रीय संबंध

सरकार की संसदीय एवं अध्यक्षीय व्यवस्थाएं

सरकार के तीन प्रमुख कार्य है : कानून बनाना, कानून लागू करना तथा कानून की व्याख्या करना। यह कार्य क्रमशः विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को सौंपे गए है। संसदीय एवं अध्यक्षीय शासन प्रणाली, कार्यपालिका एवं विधायिका के आपसी संबंधों के आधार पर निश्चित होती है। उसमें यह देखा जाता है कि वे एक-दूसरी से कितनी स्वतंत्र या एक-दूसरी पर कितनी निर्भर हैं। अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में विधायिका एवं कार्यपालिका एक दूसरी से स्वतंत्र होती हैं जबकि संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका विधायिका से ही उत्पन्न होती है। संसदीय प्रणाली में 'शक्तियों का सम्मिश्रण' है जबकि अध्यक्षीय व्यवस्था में 'शक्तियों का पृथक्करण' है।

इन दोनों प्रणालियों में दूसरा प्रमुख अंतर कार्यकारी शक्ति के स्थान निर्धारण से संबंधित है। संसदीय प्रणाली में शासनाध्यक्ष और राज्याध्यक्ष के पद अलग-अलग होते हैं। राज्याध्यक्ष (राज्य का प्रमुख) ही राष्ट्राध्यक्ष होता है। तथा सभी कार्यकारी अधिकार उसमें निहित होते हैं। शासनाध्यक्ष, राष्ट्राध्यक्ष के नाम पर सभी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है। अलग-अलग राज्यों में राज्याध्यक्ष को अलग-अलग नाम से जाना जाता है। ब्रिटेन, बेल्जियम तथा डेन्मार्क में राजा या रानी राज्य के प्रमुख होते हैं जो वंशानुगत आधार पर बनते हैं। भारत, फ्रांस जैसे देशों में राज्य का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, जो चुनकर आता है। संसदीय प्रणाली में, जैसे ब्रिटेन एवं भारत में, प्रधान मंत्री शासनाध्यक्ष यानी सरकार का प्रमुख होता है।

संसदीय व्यवस्था में राज्य के प्रमुख एवं सरकार के प्रमुख में अंतर इसलिए आवश्यक है क्योंकि सरकार के प्रमुख (प्रधान मंत्री) के चयन का निर्णय विधायिका में राजनीतिक दलों के सदस्यों की संख्या के आधार पर किया जाता है। जब किसी दल को विधायिका में स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है तब उस दल का नेता सामान्य प्रक्रिया से प्रधान मंत्री बन जाता है। परंतु यह हमेशा संभव नहीं होता। विधायिका में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो, यह भी संभव है। ऐसी स्थिति में कई राजनीतिक दल मिलकर गठबंधन की सरकार बनाते हैं। बहुमत के निर्धारण के लिए एक प्राधिकारी की आवश्यकता होती है; यह कार्य राज्य के प्रमुख (राज्याध्यक्ष) द्वारा किया जाता है।

अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में, राष्ट्रपति चुनाव के पश्चात् कार्यभार ग्रहण करता है। इसलिए वह राज्य एवं सरकार दोनों का प्रमुख होता है। यह

भेदभाव संसदीय व्यवस्था में नहीं होता क्योंकि अध्यक्षीय व्यवस्था में कार्यकारी सत्ता एक ही प्राधिकारी के हाथ में होती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रमुख होता है।

ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका क्रमशः संसदीय एवं अध्यक्षीय प्रणाली के उदाहरण हैं। कई अन्य प्रणालियां भी हैं जिनमें उक्त दोनो व्यवस्थाओं के लक्षण विद्यमान हैं।

संसदीय व्यवस्था

संसदीय व्यवस्था में विधायिका सर्वोच्च संस्था होती है। कार्यपालिका (प्रधान मंत्री, मंत्रिमंड़ल/ केबिनेट तथा मंत्रि-परिषद) विधायिका से ही शक्ति प्राप्त करती है। इसलिए कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होती है। विधायिका अधिकांशतः जनता के प्रतिनिधियों से बनती है। विधायिका के विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्यों में जिस किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है, उसी दल का नेता प्रधान मंत्री बनता है। लेकिन विधायिका की रचना इस प्रकार भी हो सकती हैं कि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। भारत में अक्सर इसे 'त्रिशंकु' संसद कहा जाता है। ऐसी परिस्थिति में केई राजनीतिक दल मिलकर बहुमत जुटाते हैं। ऐसे राजनीतिक दलों के गठबंधन में किसी एक दल का नेता प्रधान मंत्री बनता है। प्रधान मंत्री इस सरकार की कार्यपालिका का प्रमुख होता है।

प्रधान मंत्री द्वारा विधायिका के अपने राजनीतिक दल के सदस्यों में से या गठबंधन के सदस्यों से मंत्रि-परिषद का निर्माण होता है। यदि आवश्यकता हो तो प्रधान मंत्री विधायिका के बाहर से सदस्यों को मंत्रिमंडल में शामिल कर सकता है। भारत में ऐसे मंत्रियों को छः महीने के भीतर संसद के किसी एक सदन की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती है। मंत्रि-परिषद के अंतर्गत एक छोटा समूह होता है जिसे कैबिनेट अथवा मंत्रिमंडल के नाम से जाना जाता है।

भारत में, कैबिनेट मंत्रियों के अतिरिक्त राज्य मंत्री तथा उपमंत्री और कभी-कभी संसदीय सचिव भी होते हैं। कैबिनेट मे महत्त्वपूर्ण सदस्य मंत्री होते हैं जिनसे प्रधान मंत्री हमेशा सलाह लेते रहते हैं। वे सरकार के महत्त्वपूर्ण विभागों के स्वतंत्र प्रभारी होते हैं। राज्य मंत्री कैबिनेट मंत्री के साथ सरकारी विभाग की देखभाल करते हैं। कई बार इन्हे कुछ विभागों का स्वतंत्र प्रभार भी दे दिया जाता है। कैबिनेट मंत्री या राज्य मंत्री की सहायता करने के लिए उपमंत्री होते हैं। वित्त जैसे बड़े मंत्रालय में वित मंत्री के साथ दो या तीन उपमंत्री हो सकते हैं। संसदीय सचिव का कार्य सीमित होता है, वह मंत्रियों को अपने विभाग से संबधित मामलों को विधायिका में निबटाने में मदद देता है।

भारतीय संविधान की धारा 74(1) के अंतर्गत भारत के राष्ट्रपति के द्वारा प्रधान मंत्री की नियुक्ति का प्रावधान है तथा धारा 75(1) के अंतर्गत मंत्रि-परिषद के गठन का प्रावधान है। मंत्रियों की नियुक्ति प्रधान मंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सिद्धांततः मंत्रिगण "राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यत" अपने पद पर बने रहते हैं। प्रधान मंत्री अपनी मंत्रि-परिषद का चयन स्वयं करता है तथा उन्हें त्यागपत्र देने के लिए भी कह सकता है। यदि प्रधान मंत्री विधायिका का विश्वास खो दे तो उसे

अपनी मंत्रि-परिषद के सदस्यों के साथ त्यागपत्र देना पड़ता है। यह तब भी करना पड़ता है जब उसी राजनीतिक दल का दूसरा व्यक्ति प्रधान मंत्री बनता है। वह मंत्रि-परिषद के अपने सदस्यों का चयन स्वयं करता है।

एक बार बन जाने के बाद मंत्रि-परिषद प्रधान मंत्री और उसकी सरकार के सभी कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ है कि कैबिनेट के निर्णय को इसके सभी सदस्यों के द्वारा समर्थन प्राप्त है। यदि कोई मंत्री कैबिनेट के निर्णय से असहमत है तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। यह प्रधान मंत्री पर भी लागू है कि जब वह विधायिका का विश्वास खो दे तब उसे मंत्रि-परिषद समेत त्यागपत्र दे देना होगा।

कैबिनेट के सभी निर्णयों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होने के साथ-साथ सभी मंत्री अपने-अपने विभागों के निर्णयों के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। भारत सरकार में गृह विभाग, विदेश विभाग, वित्त विभाग, उद्योग, कृषि जैसे अनेक विभाग हैं। प्रत्येक मंत्री अपने विभाग की नीतियों तथा उसके कार्यो के लिए जिम्मेदार होता है जिसका वह प्रभारी है। कैबिनेट के निर्णय के लिए किसी मुद्दे को तभी ले जाया जाता है जब वह राजनीतिक रूप से विवादास्पद हो। इस प्रकार मंत्रियों का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार का होता है।

संसदीय व्यवस्था में व्यक्तिगत एवं सामूहिक, दो प्रकार एवं दो स्तरों पर मंत्री का उत्तरदायित्व ब्रिटेन की द्वि-दलीय व्यवस्था के साथ जुड़ा होना एक उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसी व्यवस्था मे प्रधान मंत्री तथा अन्य मंत्री एक ही दल के होते हैं। प्रधान मंत्री नेता के रूप में सभी को स्वीकार्य होता है तथा वह पार्टी की विचारधारा एवं नीतियों को समर्थन देता हैं। गठबंधन सरकार में ये शर्ते लागू नहीं होती। इसमें समझौते का आधार आम सहमति का कार्यक्रम होता है जो राजनीतिक दलों द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह सारा कार्यक्रम सभी दलो की आपसी सहमति से तैयार किया जाता है। गठबंधन सरकार में सामूहिक उत्तरदायित्व आसान नहीं होता।

मंत्रि-परिषद संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। संसद का विश्वास खो देने पर प्रधान मंत्री एवं उसकी मंत्रि-परिषद को इस्तीफा देना पड़ता है। प्रधान मंत्री एवं उसकी मंत्रि-परिषद् की एक प्रमुख शक्ति यह होती है कि वे विधायिका का कार्यकाल पूरा होने से पूर्व भी उसे भंग करने की सिफारिश कर सकते हैं।

संसदीय व्यवस्था एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने के लिए सभी प्रकार की सावधानियां बरतती है। इसमें विधायिका के प्रति एवं जनमत के प्रति उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाता है। सभी सरकारी विभागों तथा उनकी नीतियो पर विधायी उत्तरदायित्व एक प्रभावी रोक का काम करता है।

अध्यक्षीय व्यवस्था

सरकार की यह व्यवस्था विधायिका एव कार्यपालिका के बीच शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति का चुनाव विधायिका यानी कांग्रेस के चुनाव से अलग होता है। कांग्रेस के दोनों सदनों अर्थात्

प्रतिनिधि सभा तथा सीनेट के चुनाव अलग-अलग सिद्धांतों पर तथा अलग-अलग अवधि के लिए होते हैं। राष्ट्रपति का चुनाव जनता के द्वारा चार वर्षो के लिए किया जाता है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से अपनी वैधानिकता को प्राप्त करता है। वह विधायिका का सदस्य नही होता है। राष्ट्रपति एव कांग्रेस स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। विधायिका का राष्ट्रपति के कार्यों पर कोंई नियंत्रण नहीं होता, न ही वह उसे पद से हटा सकती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही उसे महाभियोग के द्वारा हटाने का प्रावधान है। राष्ट्रपति विधायिका के दोनों सदनों को संबोधित करता है तथा उन्हें अपने संदेश भेज सकता है। किसी भी परिस्थिति में राष्ट्रपति विधायिका को भंग नहीं कर सकता।

अमेरिका का राष्ट्रपति अपने सलाहकारों का चयन करता है जो उसके मंत्रिमंडल (कैबिनेट) के सदस्य होते है। परंतु कैबिनेट के सदस्य विधायिका के अंग नही होते। यदि विधायिका के किसी सदस्य को कैबिनेट में शामिल किया जाता है तो उसे विधायिका की सदस्यता से त्यागपत्र देना पड़ता है। कैबिनेट के सदस्य विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं जो सरकार एवं राज्य दोनों का प्रमुख होता है।

सरकार के तीनों अंगों के स्वतंत्र तथा विशिष्ट स्वरूप को देखते हुए 'शक्ति के पृथक्करण का सिद्धांत' सामान्य रूप से तो लागू हो सकता है परंतु विशिष्ट रूप में नहीं। ये सभी सरकार के ही अंग हैं अतः इन्हें एक-दूसरे के साथ सामंजस्य बनाकर चलना चाहिए। किसी एक को भी दूसरे अंगों की सलाह लिए बगैर अपनी शक्ति के निरंकुश इस्तेमाल की छूट नहीं दी जानी चाहिए। यदि ऐसा कर दिया जाता है तब तीनों ही संस्थाएं परस्पर मतभेद एवं विवाद की स्थिति में आ जाएगी।

इसी कारण से अध्यक्षीय व्यवस्था में संविधान द्वारा शक्तियों का पृथक्करण कठोरता से नहीं होता है। यद्यपि शक्तियों का बंटवारा होता है परंतु सभी संस्थाओं के बीच आपसी तार जुड़े होते है जो उन्हें संतुलन की स्थिति में बनाए रखते हैं। इस व्यवस्था को 'नियंत्रण एवं संतुलन' के सिद्धांत के नाम से जाना जाता है।

आइए, संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से कुछ ऐसे उपायों के उदाहरणों की समीक्षा करें। राष्ट्रपति कांग्रेस से स्वतंत्र होता है परंतु कांग्रेस उसके विरुद्ध महाभियोग ला सकती है। यह ऐसा कदम है जो अब तक सिर्फ एक बार उठाया गया था जब 1868 में एंड्रू जॉनसन पर महाभियोग चलाया गया था। विधायिका के दूसरे सदन सीनेट को राष्ट्रपति के द्वारा की गई नियुक्तियों को स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार है। इस तरह से कार्यपालिका की शक्तियों में सीनेट को कुछ अंश तक भागीदारी प्राप्त है। विधायिका द्वारा पारित किए गए विधेयक के संदर्भ में राष्ट्रपति को निषेधाधिकांर (वीटो) प्राप्त है, जिसके अंतर्गत वह विधेयकों पर अपने हस्ताक्षर रोक लेता है। यह राष्ट्रपति को विधेयकों पर नियंत्रण का अधिकार-देता है। ऐसे मामलों में विधायिका उस प्रस्ताव को दोबारा पास करके उसे अधिनियम मान लेती है। न्यायाधीशों की सेवा अवधि निश्चित है तथापि कांग्रेस के द्वारा उन्हे भी महाभियोग के द्वारा हटाया जा सकता है। संविधान के द्वारा स्वतंत्र

न्यायपालिका का प्रावधान है जो कांग्रेस एवं राष्ट्रपति दोनों के कार्यो की, सवैधानिकता की दृष्टि से समीक्षा कर सकती है। परंतु न्यायाधीशो की संख्या तथा उनके वेतन विधायिका द्‌वारा निर्धारित किए जाते हैं। राष्ट्रपति दूसरे देशों के साथ संधि कर सकता है परंतु इस सधि का सीनेट मे दो-तिहाई बहुमत से पारित होना आवश्यक है। कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका की शक्तियां अलग-अलग हैं परंतु ये एक-दूसरी पर नियंत्रण के द्‌वारा सतुलन बनाए रखती हैं। यह नियंत्रण एवं संतुलन का सिद्‌धात सभी संस्थाओं को सामंजस्य की स्थिति में कार्य करने में सहायता देता है तथा सरकार के किसी भी अंग को असीमित शक्ति का प्रयोग करने से रोकता है। शक्ति का पृथक्करण तथा नियंत्रण एवं संतुलन का सिद्‌धांत समूचे तंत्र को ठीक तरह से कार्य करने में सहायता प्रदान करता है।

संसदीय एवं अध्यक्षीय व्यवस्था का मिश्रित रूप : भारत एवं फ्रांस

सरकार के दोनों ही प्रकार के शुद्‌ध स्वरूपों का वर्णन ऊपर किया गया है परंतु ऐसे भी देश हैं जहां चुना हुआ राष्ट्रपति एवं चुना हुआ प्रधान मंत्री है। भारत एवं फ्रांस इसके दो उदाहरण हैं। जहां भारत के संविधान में प्रधान मंत्री की स्थिति अधिक मजबूत है, वहीं फ्रांस में राष्ट्रपति की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण होती है।

ब्रिटिश प्रतिरूप पर आधारित भारतीय शासन व्यवस्था में राज्य के प्रमुख का स्थान राष्ट्रपति को दिया गया है। वह विधायिका में बहुमत प्राप्त दल के नेता या बहुमत वाले गठबंधन के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है। परंतु राष्ट्रपति का निर्वाचन लोक सभा, राज्य सभा एवं राज्य विधान सभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों द्‌वारा किया जाता है। भारत का राष्ट्रपति राष्ट्र का सांविधानिक अध्यक्ष होता है परंतु वास्तविक शक्तियां प्रधान मंत्री के हाथ में होती है जिसका संसद में बहुमत होता है। राज्य के प्रमुख के रूप में राष्ट्रपति की शक्तिया महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं परतु राजनीतिक स्थिति को देखते हुए प्रधान मंत्री की स्थिति शक्ति का वास्तविक केंद्र होती है।

फ्रांस की व्यवस्था एक अलग प्रकार की है। वहां अस्थिर सरकारों का दौर रहा है। 1962 में किए गए महत्त्वपूर्ण संशोधन के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष हो गया। वह प्रधान मंत्री को मनोनीत करता है जो अपने मंत्रिमंडल का चयन करता है। मंत्रिमंडल के सदस्य विधायिका के सदस्य नहीं होते जैसाकि अमेरिका की संसदीय व्यवस्था मे हैं। यदि संसद के किसी सदस्य को मंत्री नियुक्त किया जाता है तो उसे विधायिका से त्यागपत्र देना पड़ता है। राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह सत्ता का वास्तविक केंद्र होता है। प्रधान मंत्री तथा उसके मंत्रियों का संसद से कोई संबंध नहीं होता है। कार्यपालिका को मजबूत करने के प्रयास से फ्रांस की शासन व्यवस्था ने संसद को कमजोर संस्था बना दिया है। वास्तविक शक्ति फ्रांस के राष्ट्रपति के पास रहती है।

ऐसी व्यवस्थाओं में राज्य के प्रमुख एवं सरकार के प्रमुख क्रमशः राष्ट्रपति एवं प्रधान मंत्री के बीच संतुलन रखना आवश्यक होता है। इन दोनों ही संस्थाओं की सांविधानिक स्थिति उस देश के

राजनीतिक अनुभव पर निर्भर करती है। व्यवहार मे इन दोनों ही संस्थाओं के बीच राजनीतिक प्रक्रियाओ के कारण विवाद की स्थिति आती रहती है।

प्रबलताएं एवं दुर्बलताएं

एक तुलनात्मक विश्लेषण

संसदीय व्यवस्था सरकार के दो अंगों, विधायिका एवं कार्यपालिका के बीच बेहतर तालमेल सुनिश्चित करती है। जिस दल का या दलों के गठबंधन का विधायिका में बहुमत होता है, उसी का प्रधान मंत्री होता है जो कार्यपालिका का नेतृत्व करता है। विधायी प्रक्रिया वास्तव में कार्यपालिका से प्रभावित होती है। इससे एक ओर जहां दोनों संस्थाओ के संबंध मधुर बने रहते हैं, वहीं दूसरी ओर विधायिका एवं कार्यपालिका की शक्तियां संक्रेद्रित हो जाती हैं। कार्यपालिका पर विधायिका को नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। कार्यपालिका पर विधायिका के नियंत्रण की व्यवस्था तो होती है परंतु दलीय स्थिति इसे प्रभावी नहीं होने देती। अध्यक्षीय व्यवस्था के 'शक्ति पृथक्करण के सिद्धात' के अंतर्गत दोनों ही अंग स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं तथा एक-दूसरे पर नियंत्रण रखते हैं। ऐसी व्यवस्था में विधायिका एवं राष्ट्रपति के बीच विवाद की स्थिति पैदा हो सकती है।

संसदीय व्यवस्था मे 'सामूहिक उत्तरदायित्व' एक ऐसी व्यवस्था सुनिश्चित करता है जिसके अंतर्गत शक्ति तथा उत्तरदायित्व में सभी मंत्रियों की भागीदारी होती है और उनका यह उत्तरदायित्व विधायिका के प्रति होता है। अध्यक्षीय व्यवस्था में कार्यकारिणी शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित रहती है जिसका विधायिका से सीधा संबंध नहीं रहता है। अध्यक्षीय व्यवस्था में उसके निरंकुश हो जाने की संभावना कहीं अधिक है। वही दूसरी ओर प्रधान मंत्री विभिन्न दिशाओ से लगातार दबाव में रहता है। विधायिका में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह विधायी संस्थाओं पर नजर रखता है। गठबंधन सरकारों मे विधायिका के अंदर बहुमत बनाए रखना आसान नही है। प्रधान मंत्री अपने दल का नेता होता है और उसके लिए अन्य दलो का समर्थन जुटाना आवश्यक होता है। वह अपनी मंत्रि-परिषद का नेतृत्व करता है तथा मंत्रि-परिषद में सामजंस्य होना आवश्यक है। मंत्रि-परिषद के सदस्य अर्थात मंत्रिगण अपने-अपने राजनीतिक दल के प्रमुख नेता होते हैं तथा उनका संतुष्ट रहना तथा प्रधान मंत्री के नेतृत्व में विश्वास रखना आवश्यक होता है। मंत्रि-परिषद का गठन करना तथा उसमें उन्हें बनाए रखना एक राजनीतिक कौशल है। गठबंधन सरकार मे यह कार्य और भी कठिन होता है। अलग-अलग दिशाओ से पड़ने वाले इन सभी दबावों में प्रधान मंत्री को लोकतांत्रिक परिवेश या ढांचे में रहकर कार्य करना होता है।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली में निर्णय जल्दी लिए जाते है क्योकि यह एक व्यक्ति के द्वारा होते हैं तथा वही इनके लिए उत्तरदायी होता है। संसदीय व्यवस्था में सत्ता प्रधान मत्री के कार्यालय तथा मंत्रि-परिषद में निहित होती है जो अंतिम रूप से विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार निर्णय लेने की प्रक्रिया कई व्यक्तियो एवं संस्थाओं में बंटी होने के कारण ज्यादा समय लगाने वाली व्यवस्था है।

कार्यपालिका दोनों ही प्रणालियों में एक निश्चित समय के लिए चुनी जाती है। ब्रिटेन एवं भारत में साधारणतः चुनाव पांच वर्षों के बाद होते

हैं जबकि अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव चार वर्षो के पश्चात होता है। ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है जब इतने समय के भीतर ही नेतृत्व में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ जाए। इसके उचित राजनीतिक कारण भी हो सकते हैं। संसदीय व्यवस्था ऐसे में नेतृत्व परिवर्तन के लिए विधायिका में बहुमत के आधार पर निर्णय करती है। यदि सरकार विधायिका में अपना बहुमत खो देती है तथा जब कोई अन्य दल या दलों का गठबंधन अपना बहुमत साबित कर देता है तो अपना प्रधान मंत्री बना सकता है। यह भी हो सकता है कि जिस पार्टी का विधायिका में बहुमत हो, वही प्रधान मंत्री को बदलना चाहे। ऐसा अनेक तरह के दबावों में संभव है। अध्यक्षीय व्यवस्था नेतृत्व में ऐसे आसान परिवर्तन की स्वीकृति नही देती। किंतु संविधान में महाभियोग की व्यवस्था है। परंतु यह एक अंतिम विकल्प के रूप में है और इसकी प्रक्रिया, काफी विस्तृत तथा कड़ी है। सामान्य परिस्थितियों में मध्यावधि में नेतृत्व परिवर्तन संभव नहीं है।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यकाल की सुरक्षा के सकारात्मक पहलू हैं। यह एक स्थायी सरकार देती है। एक बार राष्ट्रपति चुने जाने के बाद वह बिना किसी दबाव के राजनीतिक निर्णय ले सकता है। वही दूसरी ओर संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका, विधायिका में अपना बहुमत जुटाए रखने में ही व्यस्त रहती है तथा ऐसे निर्णय लेना कठिन होता है जो समाज के एक वर्ग को विरोध में ला खड़ा करे। ऐसी परिस्थिति में जब राजनीतिक दल के पास कामचलाऊ बहुमत हो, ससदीय व्यवस्था अस्थायी होती है तथा सरकार में बार-बार परिवर्तन होते हैं। यहां तक कि चुनाव भी हो सकते हैं। यह उन देशों में होता है जहां बहुदलीय व्यवस्था है तथा दलों के बीच तीव्र मतभेद है। कई देश जहां संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत बहुदलीय व्यवस्था भी है, वहां अस्थिर सरकार की समस्या है। फ्रांस एवं इटली इसके उदाहरण हैं। लेकिन स्कैंडिनेवियाई देशों (जेसे नार्वे और स्वेडन) मे, जहां संसदीय प्रणाली है, अंतर्दलीय सहयोग की परपरा विकसित हो चुकी है। किसी भी देश की राजनीतिक परंपराओं तथा राजनीतिक संस्कृति को ध्यान में रखना आवश्यक है। अनेक दलों पर आधारित सरकार सामान्यतया स्थिर एवं प्रभावी नहीं होती है। फ्रास में यह अनुभव 1871 से 1958 तक रहा जब सरकारें गतिहीनता की शिकार रहीं। गठबंधन सरकारों के समक्ष हमेशा ही ऐसी समस्या रहती है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली को इसीलिए मज़बूत एव प्रभावी सरकार के रूप में जाना जाता है। यह एक आधार है जिस पर भारतीय संसदीय व्यवस्था को अध्यक्षीय व्यवस्था में परिवर्तित करने का सुझाव दिया जाता है।

सरकार की इन दोनों प्रणालियो की मज़बूती या कमजोरी का अध्ययन मुख्यतः सांविधानिक एवं विधिक प्रावधानों से जुड़ा होता है। स्थायी पार्टी संरचना संसदीय व्यवस्था के लिए आवश्यक है। राजनीतिक दलों में आंतरिक एकता होनी चाहिए तथा पार्टी अनुशासन भी आवश्यक है। सरकार में शामिल दल या दलों को अपनी नीतियों को स्पष्ट करने एवं बचाव करने का उचित ढंग आना चाहिए। अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में विधायिका को बाहरी शक्ति की तरह देखा जाता है। राष्ट्रपति को कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में अपने निर्णय लेने होते हैं और उनके लिए में पार्टी में अनुशासन एवं एकता का ध्यान रखना अधिक आवश्यक नहीं है।

संसदीय व्यवस्था इसी आधार पर चलती है कि एक दल (दलों का समूह) सरकार मे होता है तथा अन्य दल विपक्ष में होते है। कई देशों में विपक्ष के सबसे बड़े दल को 'आधिकारिक विपक्ष' का दर्जा दिया जाता है। ब्रिटेन मे विपक्ष 'छाया कैबिनेट' बनाए रखता है। विपक्ष ऐसे समूह के रूप में देखा जाता है जो सरकार के गिरने की स्थिति में विधायिका में बहुमत जुटा सकता है। बहुदलीय गठबंधन वाले देशों में सरकार एवं विपक्ष के बीच बहुत अंतर नहीं रह जाता है क्योंकि सरकार में शामिल दलों में से एक सरकार को छोड़कर विपक्ष में जाता है तो विपक्ष का कोई दल गठबंधन में शामिल हो जाता है।

अमेरिका की अध्यक्षीय व्यवस्था में राष्ट्रपति एव कांग्रेस की स्थिति पार्टी के संदर्भ में अलग प्रकार की होती है। सरकार में शामिल दल तथा विपक्ष के दल में कोई अंतर नहीं होता है। राष्ट्रपति जिस दल का होता है वह दल सरकार में माना जाता है। चूंकि राष्ट्रपति एवं कांग्रेस में पार्टी के संदर्भ मे कोई संबंध नहीं होता, इसलिए कोई आधिकारिक विपक्ष नहीं होता है।

किसी देश की राजनीतिक परिपक्वता ही सरकार की इन दोनों प्रणालियों की कार्यपद्धति को निश्चित करती है। ब्रिटेन एवं अमेरिका में संसदीय एवं अध्यक्षीय व्यवस्था द्वि-दलीय व्यवस्था के विकास के साथ लंबे समय से जुड़ी हुई है।

भारत में चार दशकों तक बहुदलीय व्यवस्था के बावजूद कांग्रेस की विचारधारा के आस-पास सहमति बनी रही। इस सहमति के परिणामस्परूप, कोई भी राजनीतिक दल संसद के अंदर बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ रहा। 1989 से 1999 के दशक मे ऐसी संसद बनी जिसमें किसी राजनीतिक दल का बहुमत नहीं था। इसका परिणाम था गठबंधन सरकारें, अल्पमत सरकारें तथा बार-बार चुनाव। संसदीय एवं अध्यक्षीय व्यवस्था के कार्यों को समझने के लिए उस देश की राजनीतिक पृष्ठभूमि तथा राजनीतिक दलों की कार्यवाही को समझना आवश्यक होता है।

कार्यपालिका के नेतृत्व का बढ़ता प्रभाव

आधुनिक काल में कार्यपालिका की प्रमुख शक्तियों में निरंतर अभिवृद्धि पर अधिक बल दिया जाता रहा है। पुरानी व्यवस्थाओं, जैसे ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में, यह राजनीतिक शक्तियों के प्रवाह के परिणामस्वरूप संभव हुआ। वहीं दूसरे देशों, जैसे फ्रांस में भजबूत कार्यपालक नेतृत्व की आवश्यकता महसूस की गई एवं इसे संविधान में शामिल किया गया। फ्रांस की तरह ही श्रीलंका ने भी संसदीय व्यवस्था को अपनाया परंतु बाद में राष्ट्रपति जयवर्धन द्वारा दिए गए नए संविधान में अध्यक्षीय व्यवस्था को अपना लिया गया।

ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था प्रधान मंत्रीय शासन व्यवस्था में परिवर्तित हो गई है। प्रधान मंत्री के नेतृत्व वाली कैबिनेट महत्त्वपूर्ण स्थिति में आ गई है। ज्यादातर विधायी प्रस्ताव कैबिनेट द्वारा लाए जाते हैं। प्रधान मंत्री संसद में बहुमत दल का नेता होता है तथा इस बहुमत की वजह से सभी कार्यवाहियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। बहुमत दल की इच्छा के विरुद्ध संसदीय निर्णय नही हो सकते हैं। प्रधान मंत्री एव उसका मंत्रिमंडल संसदीय प्रक्रियाओं को बहुमत दल के कारण नियंत्रित करता है। जेम्स वी. ब्राइस ने 1920 में अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक *मार्डन डेमोक्रेसीज* मे विधायिका के अपकर्ष की चर्चा की है। कार्यपालिका की शक्ति मे वृद्धि का प्रमुख कारण के.सी. वेयर के अनुसार आधुनिक राज्य की गतिविधियो मे विस्तार है। कानून निर्माण के क्षेत्र मे "प्रत्यायोजित विधान" (Deligated legislation) की वजह से कार्यपालिका की शक्तियों में विस्तार हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सुरक्षा की नीतिया के विस्तार ने कार्यपालिका की शक्तियों को बढ़ाया है।

अध्यक्षीय शासन व्यवस्था स्पष्टतः एक व्यक्ति के नेतृत्व के साथ जुड़ी हुई है। संसदीय व्यवस्था मे भी जहां एक सभूह का नेतृत्व होता है, प्रधान मंत्री की स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण होती है। आम चुनाव के समय प्रधान मत्री पद के प्रत्याशी स्वयं में ही चुनाव का मुख्य मुददा बन जाते हैं। प्रत्येक चुनाव एक जनमत संग्रह की तरह हो जाता है। यह न केवल ब्रिटेन के मामले में, अपितु भारत के लिए भी सत्य है। पं. जवाहरलाल नेहरु, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी तथा अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व राष्ट्रीय चुनाव के समय मुख्य मुद्दा बनता रहा है।

तीसरी दुनिया के देश विकास की गतिविधियों के साथ लोकतंत्र के आदर्शो के प्रति भी समर्पित रहे हैं। एक ऐसी कार्यपालिका का निर्माण करने के लिए, जो सशक्त, प्रभावी, स्थायी तथा नियंत्रण एव संतुलन के गुणों से संपन्न हो, अनेक देश अध्यक्षीय व्यवस्था की ओर आकर्षित हुए हैं।

संविधान के एकात्मक और संघात्मक रूप

भू-भाग किसी भी राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है। सरकार अपने भू-भाग पर अपनी सत्ता का प्रयोग करती है। अपने भू-भाग पर, विशेषतः बड़े भू-भाग पर, बेहतर नियंत्रण के लिए राज्यक्षेत्र को छोटी-छोटी इकाइयो मे विभाजित किया जा सकता है। केंद्र सरकार तथा इकाइयों की सरकारों के बीच के संबंधो से ही यह पता लगता है कि केंद्र सरकार का अधिकार क्षेत्र संपूर्ण भू-भाग पर है अथवा वह केंद्र सरकार तथा छोटी इकाइयों के बीच विभाजित है। इससे यह निर्णय हो जाता है कि सरकार एकात्मक है अथवा संघीय। एकात्मक सरकार के पास भी क्षेत्रीय इकाइयां हो सकती हैं परंतु इन इकाइयों के अधिकार पूर्णतः केंद्र सरकार के अधीन होते हैं। किंतु ऐसी व्यवस्था जिसमें न तो केंद्र सरकार और न ही क्षेत्रीय इकाइयां एक दूसरे के अधीनस्थ होती हैं बल्कि समकक्ष होती हैं, उसे संघ कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक तीसरी व्यवस्था भी है जिसे परिसंघ कहते हैं। इसमें केंद्र सरकार, क्षेत्रीय सरकारों के अधीनस्थ होती है। एकात्मक तथा संघीय प्रकार की सरकारों का मुख्य अंतर प्रादेशिक अधिकार क्षेत्र के रूप मे सरकारी शक्तियों के वितरण पर आधारित है।

बहुत-से देशों ने एकात्मक सरकार को अपनाया है। सरकार का यह रूप प्राचीन भी है। संघीय प्रणाली अपेक्षाकृत नई है तथा 18वी सदी के उत्तरार्द्ध में यह अधिक लोकप्रिय हो गई। संयुक्त राज्य अमेरिका पहला औपचारिक संघ बना। संघीय प्रणाली वाले देशों की संख्या कम है – संयुक्त राष्ट्र संघ के 188 से भी अधिक सदस्यों में से लगभग दो दर्जन देशों ने ही संघीय व्यवस्था को अपनाया है। विविधताओं वाले देश में संघीय व्यवस्था सरकार को संगठित करने का एक नया प्रयोग है।

एकात्मक रूप

इस प्रकार की व्यवस्था में सरकार की एक ही इकाई होती है जिसका क्षेत्राधिकार पूरा प्रदेश

होता है। प्रदेश को छोटी-छोटी सरकारी इकाइयो में भी विभाजित किया जा सकता है, जिन्हे सीमित शक्तियां प्राप्त होती हैं। ये शक्तियां उन्हें केंद्र सरकार द्वारा प्रदान की जाती हैं। अतः सरकारी विभागों के अपने क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य प्रशासनिक सुविधा प्राप्त करना होता है। नगर के कार्यो के निष्पादन के लिए स्थानीय संस्थाएं होती हैं और सरकारी निर्णयों को लागू करने हेतु संबंधित विभागो के क्षेत्रीय अभिकरण होते हैं। इग्लैंड की काउन्टीज तथा फ्रांस के विभाग इस प्रकार की स्थानीय सरकार की प्रशासनिक इकाइयों के उदाहरण हैं। ये संस्थाएं केवल वही कार्य करती हैं जो उन्हे सौंपा जाता है जबकि वास्तविक सत्ता केंद्र सरकार के पास होती है। स्थानीय संस्थाएं केंद्र सरकार द्वारा सृजित की जाती हैं और वे केंद्र सरकार की ओर से कार्य करती हैं। केंद्र सरकार इन संस्थाओं की संख्या आवश्यकता पढ़ने पर घटा-बढ़ा या समाप्त कर सकती है और उनकी शक्तियों को भी वापस ले सकती है। इन स्थानीय संस्थाओं का केंद्र सरकार से अलग अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

संघात्मक रूप

संघीय व्यवस्था में सरकार के दो स्तर होते हैं– एक केंद्रीय स्तर और दूसरा क्षेत्रीय इकाइयों के स्तर। दूसरा पहले स्तर के अधीनस्थ नही होता। दोनों की शक्ति का एक ही स्रोत होता है और वह है सविधान, जो लिखित व देश का सर्वोच्च कानून होता है। केद्र और इकाइयों में शक्तियों का विभाजन संविधान में निर्दिष्ट होता है।

दो स्तरों पर शक्ति-विभाजन की पद्धति एक संघ की दूसरे संघ से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान इकाइयों (यानी राज्यो) को स्पष्ट रूप से अधिक शक्तियां देता है। कनाडा का संविधान एक शक्तिशाली संघीय सरकार की ओर उन्मुख है। भारतीय सविधान मे केंद्र और राज्यों के बीच वैधानिक शक्ति का बंटवारा तीन सूचियो मे दिया गया है : संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची पर संसद और राज्य सूची पर राज्य विधानमंडल कानून बनाते है। समवर्त्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति दोनो के पास होती है। शक्तियों के इस बंटवारे के बावजूद भारतीय संविधान में कुछ अन्य प्रावधान हैं जो केंद्र को मजबूत बनाते हैं। इस प्रकार, अलग-अलग संघ, केद्र और राज्यों के बीच शक्तियो का बंटवारा तो करते हैं लेकिन दोनों के मध्य संतुलन में भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार का संतुलन इन संघों के उद्भव से पूर्व की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर निर्भर करता है।

परिसंघीय रूप

कुछ स्वतंत्र राज्य कुछ विशिष्ट लक्ष्यों के लिए एक संघ बना सकते हैं। ये राष्ट्र ढीला गठबंधन बनाने का निर्णय ले सकते हैं। ऐसी व्यवस्था में केंद्रीय सरकार का प्राधिकार तथा कार्यक्षेत्र सीमित होता है। स्विट्ज़रलैंड स्वयं को परिसंध कहता है और इसकी इकाइयों (कैंटन) के पास अधिक शक्तियां हैं।

परिसघीय सरकार को प्रायः पूर्ण संघ के निर्माण से पहले की स्थिति के रूप में देखा जाता है। जो राज्य पहले कुछ सीमित लक्ष्यों के लिए संगठित

होते हैं और अपने अधिकारों को एक संयुक्त सरकार के प्रति समर्पित करने में सावधान रहते हैं, वे अंततः पूर्ण विलय के पक्ष में निर्णय ले सकते हैं।

स्विट्ज़रलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में बने सर्वप्रथम दो संघों का निर्माण इस प्रक्रिया को दर्शाता है। स्विस परिसंघ तीन ऐसे जिलों से आरंभ हुआ जिन्होंने आस्ट्रिया के प्रभुत्व का विरोध किया। बाद में 13 अन्य राज्यों के मिलने से इसका विस्तार हुआ और 1648 में इसे मान्यता मिली। संविधान ने 1874 मे एक संघीय व्यवस्था की स्थापना के साथ एक अंतिम रूप अपना लिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 13 प्रारंभिक राज्यों ने परिसंघ के अनुच्छेदों को 1781 मे स्वीकार किया। 1787 में फिलाडेलफिया सम्मेलन मे संघीय संविधान स्वीकृत हुआ जो 1789 में प्रभावी हुआ। इस प्रकार परिसंघीय स्वरूप प्रायः संघ के अस्तित्व में आने से पूर्व की एक संक्रमणकालीन स्थिति है।

ऐसे और भी उदाहरण हैं जिनमें विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु, राज्यों ने एकत्रित होकर गठबंधन बनाए हैं। यह लक्ष्य कई प्रकार के हो सकते हैं – रक्षा, आर्थिक तथा व्यापारिक। यूरोपीय संघ इसका उत्तम उदाहरण है, जिसमें 12 देश 1957 में यूरोपीय बाजार में सम्मिलित हुए। और भी देशों के शामिल होने से इसकी सदस्यता बढ़ी है। यूरोपीय संघ की अपनी एक सम्मिलित संसद और सामान्य मुद्रा हैं।

1971-72 में निर्मित संयुक्त अरब अमीरात (यू.ए.ई) में 7 स्वायत्त अमीरात अर्थात् आबू धाबी, दुबई, शारजाह, अजमान, उम-अल-क्यूवैन, फूजैराह तथा रास-कैमाह शामिल हैं। यू.ए.इ. की राजधानी आबू धाबी में है और इसका अपना एक राष्ट्रपति और एक प्रधान मंत्री है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद, स्वतंत्र राज्यों के परिसंघ का निर्माण दिसंबर 1991 में रूस, बाइलो-रशिया तथा उक्रेन द्वारा किया गया और बाद में इसमें 9 अन्य राज्य अर्थात् आर्मेनिया, अज़रबैजान, कजाकस्तान, माल्डेविया, तुर्कमैनिस्तान, उजबेकिस्तान, ताजिकिस्तान, किंगज़िया और जार्जिया शामिल हो गए। अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा कुछ अन्य मामलो की दृष्टि से स्वतंत्र राज्यों के परिसंघ के इन सदस्यों ने स्वयं को सोवियत संघ का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

संघों के उदय की प्रक्रिया

ऐसे क्या कारण हैं जो विभिन्न इकाइयों को एक साथ आने के लिए अथवा एक बड़ी इकाई को छोटी इकाइयों में विभाजित होने के लिए अथवा संघ बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। जिन परिस्थितियों में संघ का निर्माण होता है उन पर चर्चा करना जरूरी है।

कुछ देश बाहरी शक्तियों अथवा दूसरे देशों के आक्रमण के खतरे के कारण एक साथ आने का निर्णय ले सकते हैं। स्विट्ज़रलैंड 13वीं शताब्दी से लगातार पड़ोसी देशों से खतरे की आंशका महसूस कर रहा था। अनेक अवसरों पर यह खतरा प्रकट हुआ तथा अंततः 1848 में स्विस संघ अस्तित्व में आ गया। इसी तरह कनाडा संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयां अपने पड़ोसी संयुक्त राज्य अमेरिका के इरादों के प्रति आशंकित थी। संघीय आस्ट्रेलिया को निर्मित करने वाले 6 उपनिवेश जापान की औपनिवेशिक प्रवृत्ति से भयभीत थे।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता की भावना, किसी समान लक्ष्य, समान संस्कृति तथा समान विरासत

के आधार पर एक-दूसरे से जुड़े रहने की भावना, संघों के उदय होने के अन्य महत्त्वपूर्ण कारक हैं। भौगोलिक इकाइयां और जन-समूह भले ही अलग तथा भिन्न दिखलाई पड़ते हों किंतु इन शक्तियो के प्रभावस्वरूप उनमे एकता की भावना विकसित हो सकती है और यह संघ सरकार का आधार बन जाती है। किसी समान शत्रु का सामना करने की स्थिति अक्सर इस प्रकार की राष्ट्रवादी भावना को स्वतंत्रता देती है। बीसवी शताब्दी में औपनिवेशिक देशों के चंगुल से स्वतंत्र हुए तृतीय विश्व के कई राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना उनकी आज़ादी के संघर्ष के दौरान उत्पन्न हुई। उनमें कई देशों का संघर्ष काफी लंबा चला जिसके कारण वहां के लोग अपनी संस्कृति और विरासत की समानताओं के आधार पर एक-दूसरे के समीप आए तथा उनमें समान रूप से गर्व की भावना प्रकट हुई। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में विभिन्न क्षेत्रों के लोग, विभिन्न धर्मो तथा विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले लोग राष्ट्रवाद की भावना से एकजुट हो गए। 500 से अधिक रियासतें जोकि अलग-अलग आकार की थीं और अलग-अलग तरीको से शासित थीं, वे भी राष्ट्रवाद की भावना से एकता के सूत्र में बंध गई। परंतु, आपस में जुड़े होने की भावना जितनी महत्त्वपूर्ण थी, विविधताएं भी उतनी हीं महत्त्वपूर्ण थी। इस कारण संघीय प्रकार की सरकार को अधिक उपयुक्त पाया गया।

इकाइयों द्वारा संघ अथवा परिसंघ बनाने के प्रयासों के पीछे आर्थिक कारक भी होते हैं। संघ के बनने से होने वाले आर्थिक लाभों का अपना महत्त्व है। इसी कारण लेखकों ने प्रायः सांविधानिक प्रकार की सरकार के आर्थिक आधार का जिक्र किया है। कुछ सहकारी इकाइयां भी होती हैं जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC), परस्पर आर्थिक सहयोग समिति (COMECON), जिनका एकमात्र लक्ष्य आर्थिक सहयोग है।

औपनिवेशिक साम्राज्यों के पतन से बहुत-से नए देश अस्तित्व में आए जिन्होंने विभिन्न प्रकार की विविधताओं को ध्यान में रखते हुए संघीय प्रकार की सरकार को चुना। ये देश विश्व के विभिन्न भागों में हैं, जैसे एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, मध्य-पूर्व, तथा कैरिबियन क्षेत्र। ये देश विभिन्न देशों के औपनिवेशिक शासन में रहे हैं। इनमें से कई तो औपनिवेशिक शासन के दौरान एक राजनीतिक इकाई बन गए। विशाल प्रदेशों में अधिकाधिक नियंत्रण रखने के प्रयास में औपनिवेशिक शक्तियों ने विभिन्न इकाइयों को एक ही प्रशासन के नीचे रखा। यह मूलतः प्रशासनिक इकाइयां थीं जिनमें विभिन्न क्षेत्र शामिल थे। अलग-अलग जातियों, अलग-अलग भाषा बोलने वाले व अलग-अलग धर्म, संस्कृति को मानने वाले लोगों को प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से इनमें सम्मिलित किया गया। विस्तार के दौरान औपनिवेशिक शक्तियों ने कुछ देशो पर इस प्रकार कब्जा किया कि वे कई साम्राज्यों के बीच बंट गए। भारतीय उपमहाद्वीप केवल ब्रिटिश शासन के ही अंतर्गत नहीं था अपितु उसमें ऐसे भी प्रदेश थे जिन पर फ्रेंच, डच, अथवा पुर्तगालियों का नियंत्रण था। वास्तव में, उनमें से कुछ प्रदेश ब्रिटिशों के वापस जाने के पश्चात् भी किसी-न-किसी अन्य नियंत्रण में बने रहे।

औपनिवेशिक शासन के दौरान यह आवश्यक समझा गया कि औपनिवेशिक प्रशासन के वास्तविक गठन में विविधता को मान्यता दी जाए। जब किसी

विशिष्ट शासन के अंतर्गत स्वतंत्रता के लिए जनता ने अपना संघर्ष शुरू किया, संघीय रूप को सरकार के सबसे स्वाभाविक रूप में स्वीकार किया गया। कई देशों में औपनिवेशिक सरकारों ने अपने प्रशासन से असंतुष्ट वर्गो के बढ़ते दबाव के कारण स्वयं प्रशासन के सघीय रूप को लागू किया। औपनिवेशिक शासन के अंतिम चरणो में बहुत-से देशों में औपनिवेशिक शासकों द्वारा ही संघीय व्यवस्था शुरू की गई थी। कभी-कभी औपनिवेशिक शासकों और राष्ट्रवादी आंदोलन के नेताओं के बीच विचार-विमर्श के दौरान इसे स्वीकार किया गया। भारत मे संघीय संरचना का आधारभूत ढांचा 1935 मे प्रारंभ किया गया। इसी तरह से गठित कुछ अन्य संघीय सरकारो के उदाहरण है: नाइजीरिया, वेस्ट इंडीज़ और इंडोनेशिया।

एक केंद्रीय सत्ता प्राधिकार की आवश्यकता और किसी प्रदेश को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजन द्वारा विकेंद्रीकरण की आवश्यकता संघ के निर्माण के लिए दो महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं रही है। ये दोनों प्रक्रियाएं केंद्रमुखी और केंद्रविमुखी प्रक्रियाएं कहलाती हैं। कुछ छोटे राज्य एक-दूसरे के निकट आने और संघ बनाने की आवश्यकता को महसूस कर सकते हैं। इसके कारकों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। स्विट्ज़रलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया इस प्रकार के संघों के उदाहरण हैं। केंद्रविमुखी प्रक्रिया उन संघों की ओर निर्देश करती है जहां सांविधानिक साधनों के द्वारा एक प्रदेश को छोटी-छोटी इकाइयो में बांट दिया जाता है। भारत और कनाडा इसके उदाहरण हैं। दोनों प्रक्रियाओं का केंद्र और राज्यो से संबंधित शक्तियों पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

संघों की विशेषताएं

संघीय व्यवस्था सरकार के दो स्तरो से बनी है– एक संपूर्ण प्रदेश पर शासन के लिए जिसमें सभी इकाइयां शमिल हैं, और दूसरा जिसका अधिकार-क्षेत्र उन इकाइयो तक ही सीमित है। एकात्मक रूप मे स्थानीय संस्थाएं स्पष्टतः केंद्रीय सरकार के अधीन होती हैं। वहीं दूसरी ओर, परिसंघ में क्षेत्रीय इकाइया शक्तिशाली होती हैं। लेकिन संघीय व्यवस्था में केंद्र और राज्य दोनों का समकक्षीय अस्तित्व होता हैं। दोनों को अपनी शक्तियां और कार्य संविधान से ही प्राप्त होते है। भारत में प्रथम को 'केंद्रीय' या 'संघीय' सरकार कहते हैं। भारत में 28 राज्यों की अपनी-अपनी सरकारें हैं जिन्हें राज्य सरकारें कहते हैं। यह स्थिति अन्य संघों में भी है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में 'राज्यों', कनाडा मे 'प्रांतों', स्विट्ज़रलैंड में 'कैंटनों' और आस्ट्रेलिया में राज्यों की सरकारें।

जो विषय संघों के संविधान निर्माताओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन गया था वह है सरकार के इन दोनों स्तरों पर शक्तियों का विभाजन। विभिन्न देशों ने इस प्रकार के विभाजन की अलग-अलग योजनाएं बनाई हैं।

संविधान एक लिखित दस्तावेज है और एक 'समझौते' के रूप में है, जहां इकाइयां एक साथ होने का निर्णय लेती हैं, और ऐसी शर्ते रखती हैं जिससे निर्मित संघ सबके लिए स्वीकार्य हो सके। नव-निर्मित संविधान में सरकार के स्वरूप की व्याख्या, उनसे संबंधित शक्तियां और उन शक्तियो पर लगी सीमाओं का वर्णन रहता है। सघ में संविधान ही सर्वोपरि है और सरकार की सभी संस्थाएं संविधान के प्रावधानों के अंतर्गत ही कार्य करती हैं।

कुछ देशों, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया में राज्यो को अधिक शक्तियां प्राप्त हैं, अन्य देशों में जैसे कनाडा और भारत मे केंद्र पर अधिक बल दिया गया है। दोनो स्तरों की शक्तियो का वर्णन संबंधित विधान मंडलों के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले कार्यो तथा विषयो की सूचियो मे किया गया है। आस्ट्रेलिया तथा भारत के संघीय संविधानों मे एक तीसरी सूची भी शामिल की गई है जिसमें दोनों स्तरों के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले विषयों का उल्लेख किया गया है। ऐसी परिस्थिति मे जहा किसी विषय पर दोनो सरकारें कानून बना देती हैं, तब केंद्र द्वारा पारित कानून ही प्रभावी होता है।

यद्यपि संविधान ऐसी सूचियां निर्मित करने का प्रयास करता हैं जो व्यापक होती हैं, तथापि कुछ ऐसे मुद्दे हो सकते हैं जिनका सूची में कोई उल्लेख न हो अथवा नए मुद्दे भी उभरकर सामने आ सकते हैं जिनका सूचियों मे स्पष्ट उल्लेख न हो। अतः संविधान में ऐसे मामलों के लिए प्रावधान किए गए हैं जो कि किसी भी स्तर की सरकार के अधिकार-क्षेत्र में नही आते हैं। उन्हें अवशिष्ट शक्तियां कहा जाता है। संघ की प्रकृति के आधार पर ये शक्तियां केंद्र अथवा राज्यों में से किसी को भी दी जा सकती है। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि कुछ संघ राज्यों को अधिक महत्त्व देते हैं जबकि दूसरे, केंद्र को अधिक शक्तिया देते हैं। अतः, एक ओर स्विट्ज़रलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधानो में अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को दी गई है, वहीं दूसरी ओर कनाडा और भारत के संविधानों में ये शक्तियां केंद्र के नियंत्रण में है। अवशिष्ट शक्तियों की स्थिति इस बात की द्योतक है कि सविधान किस स्तर की सरकार को कितना महत्त्व देता है।

फिर भी, दोनों स्तरों को दी जाने वाली शक्तियों की प्रकृति को जानना जरूरी है। संघों में एक साथ अस्तित्व मे रहने वाली दोनों स्तरो की शक्तियों और कार्यों का स्पष्ट उल्लेख होना आवश्यक है। यह समय तथा परंपरा की सुविधा पर नहीं छोड़ा जा सकता, यद्यपि इनका अपना महत्त्व है। अतः संविधान का लिखित होना आवश्यक है जिसमें इस प्रकार के विभाजन के सिद्धांतों तथा सरकारों के संबंधित कार्यो का स्पष्ट वर्णन हो। दोनो स्तरों की सरकारें इन विशेष शक्तियों और कार्यो को एक ही स्रोत से अर्थात् संविधान से प्राप्त करती है।

इस प्रकार, संघों के पास एक कानूनी दस्तावेज उपलब्ध रहता है जिसमे सरकार की इकाइयों की शक्ति के अंतर्गत आने वाले विषयों और क्षेत्रों का उल्लेख रहता है। ऐसी भी परिस्थितियां आ सकती हैं जब सरकारे इन प्रावधानों का भिन्न-भिन्न अर्थ निकालें, जिस के कारण विभिन्न स्तरों की सरकारों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाए। ऐसे में एक ऐसी प्राधिकारिक व्याख्या आवश्यक हो जाती है जोकि सरकार की सभी इकाइयों के लिए बाध्यकारी हो। संघ के संविधान में सरकार की क्रियाओं के न्यायिक पुनरवलोकन का प्रावधान दिया होता है। यह कार्य स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा निष्पादित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, संविधान जो न्यायपालिका की शक्तियों व कार्यों को परिभाषित करता है, इनकी व्याख्याओं को भी सरकारों पर बाध्यकारी बनाता है। न्यायपालिका के गठन, उसकी शक्तियों और कार्यों को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है कि वह सत्तारूढ़ सरकार तथा सरकार की

विभिन्न शाखाओं से स्वतंत्र रह सके। संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय, स्विट्ज़रलैंड में संघीय न्यायालय, आस्ट्रेलिया में उच्च न्यायालय, मलेशिया में संघीय न्यायालय और भारत में उच्चतम न्यायालय, संघीय सरकारों मे स्वतंत्र न्यायपालिका के उदाहरण है जिनमें थोड़ा-बहुत अंतर है।

संघों में राष्ट्रीय एकता और क्षेत्रीय इकाइयों की विविधता के दो सिद्धांत अलग-अलग रूपो में प्रतिबिंबित होते हैं। कुछ संघीय व्यवस्थाओं मे दोहरी नागरिकता को मान्यता दी गई है--एक संपूर्ण देश की नागरिकता और दूसरी क्षेत्रीय इकाई की नागरिकता। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का एक नागरिक साथ ही वहां के एक राज्य का भी नागरिक होता है। भारत और कुछ अन्य संघों में एकल नागरिकता का प्रावधान है।

दो स्तरों पर गठित होने वाली सरकारें, विधान मंडल में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था में प्रतिबिंबित होती हैं। विधान मंडल के दोनों सदन संघीय संविधान के दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं – एक दृष्टिकोण देश के संपूर्ण रूप को देखता है जबकि दूसरा क्षेत्रों अथवा राज्यों को। जैसा कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है, संघ इन दोनों स्तरों को समान महत्त्व देता है। राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदन को विभिन्न देशों में विभिन्न नाम दिए गए हैं और राज्यों के प्रतिनिधित्व की पद्धति भी अलग-अलग है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिनिधि सभा में पूरे देश से निर्वाचित होकर आए सदस्य होते हैं। सीनेट के गठन में प्रत्येक राज्य को इसके आकार अथवा जनसंख्या देखे बिना समान दर्जा, महत्त्व तथा प्रतिनिधित्व दिया जाता है। प्रत्येक राज्य सीनेट के लिए दो प्रतिनिधि चुनता है। स्विट्ज़रलैंड में राज्यों की परिषद् स्टैंडरैट (Standerat), कैंटनों का प्रतिनिधित्व करती है। जर्मनी में उच्च सदन, बुंदास्टेट (Bundestat) का गठन भी ऐसे ही किया जाता है। भारतीय संसद के दोनो सदन प्रतिनिधित्व के इसी सिद्धांत पर आधारित है। भारत मे लोक सभा के सदस्यों का चयन प्रत्यक्षतः देश के विभिन्न चुनाव क्षेत्रों से होता है। राज्य सभा राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करती है और इसके सदस्यों का चयन परोक्षतः राज्य की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। किसी राज्य अथवा केंद्र शासित प्रदेश से चुने जाने वाले राज्य सभा सदस्यों की संख्या वहां की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त, भारत के राष्ट्रपति द्वारा 12 सदस्यों को मनोनीत किया जाता है। जबकि संघीय विधायिकाएं प्रतिनिधित्व के समान सिद्धांत का अनुसरण करती है परंतु उनके गठन में अंतर होता है।

किसी देश के लिए अपने लिखित संविधान में संशोधन करने की शक्ति का होना आवश्यक है। संविधान देश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कानूनी दस्तावेज होता है। संघीय प्रकार के वे सभी गुण जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है, संविधान में वर्णित होते हैं। संघीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया में इकाइयों की भागीदारी का होना आवश्यक है। संघीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया कोई सरल कार्य नहीं हैं। संघीय संविधानों में संशोधनों हेतु विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में 26 संशोधन हो चुके हैं जिनमें से पहले 10 संशोधन जो 'बिल ऑफ राइटस' से संबंधित

थे 1789 में ही शामिल कर लिए गए थे। पिछले 50 सालों में आस्ट्रेलियाई संविधान मे केवल 4 संशोधन किए गए हैं। भारतीय संविधान मे भी अब तक अनेक (78) संशोधन हो चुके हैं।

संघीय संविधानो में संशोधन की प्रकिया की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके लिए संघीय इकाइयों अथवा राज्यो की भागीदारी अनिवार्य होती है। चूंकि संविधान में होने वाला संशोधन इकाइयों को भी प्रभावित करेगा और संविधान में उनकी समान भागीदारी रहती है, इसलिए संशोधन के लिए इनकी भागीदारी को भी जरूरी समझा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संशोधन हेतु 50% राज्यों की स्वीकृति जरूरी है। आस्ट्रेलिया और स्विट्ज़रलैंड में कानून द्वारा पारित संशोधन जनमत के लिए प्रस्तुत किया जाता है जहां लोगों के तथा संघीय इकाइयों के बहुमत द्वारा इसे स्वीकृत किया जाना आवश्यक है। भारत में संविधान के प्रावधानों को 3 श्रेणियों में बांटा गया है– (क) वे प्रावधान जिन्हें संसद में सामान्य बहुमत द्वारा संशोधित किया जा सकता है, (ख) वे जिन्हें संसद मे दो-तिहाई बहुमत द्वारा संशोधित किया जा सकता है, और (ग) वे प्रावधान जिन्हें संसद में दो-तिहाई बहुमत द्वारा संशोधित करने के बाद कम से कम आधे राज्यों के विधान मंडलों की स्वीकृति जरूरी है। मूलतः संघीय विशेषताओं को निर्दिष्ट करने वाले प्रावधान इस तीसरी श्रेणी में आते हैं।

संघीय संतुलन

संघीय प्रकार की ऊपर वर्णित मूलभूत विशेषताएं शक्ति विभाजन के सिद्धांतों की रूपरेखा स्पष्ट करती है। केंद्र और इकाइयों को दिए गए महत्त्व के आधार पर सघों में अंतर हो सकता है। भिन्न-भिन्न संघों मे दो स्तरो की सरकारो के बीच शक्तियों का वितरण भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के संविधान में राज्यों को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि भारत और कनाडा के संविधान में केंद्र को।

इस प्रकार, विभिन्न शक्तियों तथा कारकों के संदर्भ मे संघो में अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। संघों के निर्माण की पृष्ठभूमि में स्थित ऐतिहासिक प्रक्रिया भी महत्त्वपूर्ण है। जिन मामलों मे, संघ बनाने का फैसला इकाइयां करती हैं, वहां उस बात का निर्णय भी इकाइयां ही करती हैं कि केंद्र को कौन-सी शक्तियां दी जाएं। अन्य मामलों में जहां किसी प्रदेश को विभाजित करके संघ बनाया जाता है, वहां केंद्र यह निर्णय करता है कि इकाइयों के पास कौन-सी शक्तियां होंगी। इन्हीं दो प्रक्रियाओ को केंद्रमुखी तथा केंद्र-विमुखी कहा गया है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में संघीय व्यवस्था लागू करने की प्रक्रिया इन दोनों का उदाहरण है।

संघीय संविधान के निर्माण में संबंधित देशों के समकालीन अनुभव संघीय शक्तियों के संतुलन के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। कनाडा के संविधान में एक शक्तिशाली केंद्र का प्रावधान किया गया है क्योंकि जिस समय 1864-67 के दौरान संविधान पर चर्चा की जा रही थी, उस समय पड़ोसी देश संयुक्त राज्य अमेरिका में गृह-युद्ध के कारण (1861-65) क्षेत्रीय स्वायत्तता की कमियां उजागर हो रही थीं। कनाडा में संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में अधिक विविधता है। अतः देश को एक रखने हेतु संविधान निर्माताओं ने शक्तिशाली केंद्र का विकल्प स्वीकार किया जिससे देश की एकता सुनिश्चित हो सके।

शक्तिशाली केंद्र वाले संघों का एक और उदाहरण भारत है। स्वतंत्रता के तुरंत पूर्व के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारणों, जैसे युद्ध से उपजे अभाव, खासतौर पर खाद्यान्नों का अभाव, देश का विभाजन, कानून-व्यवस्था की अनेक समस्याएं, लोगों का विस्थापन, रियासतों का एकीकरण तथा तेलंगाना आदि में हुई उथल-पुथल ने संविधान निर्माताओं को शक्तिशाली केंद्र के पक्ष में सोचने पर मजबूर किया। इन्ही कठिन परिस्थितियों के संदर्भ मे ही भारतीय संघीय व्यवस्था का पलड़ा शक्तिशाली केद्र के पक्ष में झुका हुआ है।

संघ की सफलता की शर्तें

संविधान केवल सरकार की संस्थाओं व संरचनाओं की व्यवस्था करता है। सस्थाओं की वास्तविक कार्यव्यवस्था कई कारकों पर निर्भर करती है।

किसी संघ को निर्मित करने वाली विभिन्न इकाइयां एक-दूसरे से भौगोलिक रूप से अलग नहीं होनी चाहिए। वे भौगोलिक रूप से एक-दूसरी से जुड़ी होनी चहिए। पाकिस्तान तथा वेस्ट इंडीज ऐसे दो उदाहरण हैं जहां संघों को बनाए रखना कठिन हो गया। पाकिस्तान के दो हिस्सों, पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच 1609 कि.मी. का भारतीय प्रदेश स्थित था। वेस्ट इंडीज, जहां संघीय व्यवस्था का गठन 1958 में किया गया, में भी 10 द्वीप अथवा द्पीपसमूह थे। इन दोनों मामलो में, संघीय व्यवस्था सुचारुरूप से नहीं चल सकी। एक ओर वर्ष 1971 में पूर्वी पाकिस्तान एक स्वतंत्र देश अर्थात् बंगला देश बन गया। दूसरी ओर, त्रिनिडाड तथा जमाइका की वापसी के साथ 1962 में कैरीबियन संघीय व्यवस्था का त्याग कर दिया गया। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि एक-दूसरे से पृथक क्षेत्रों का संघ संभव नहीं है। ब्रिटिश कोलंबिया कनाडा का एक भाग है तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने संघ में अलास्का और हवाई को राज्यों के रूप में सम्मिलित कर लिया है और ये संघ सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। महत्त्वपूर्ण कारक यह है कि निर्माण के प्रारंभिक वर्षो के दौरान जब संघ एकदम नए होते हैं, उनका क्षेत्र, भौगोलिक रूप से सुगठित होना चाहिए।

इतना ही महत्त्वपूर्ण है एकता और विविधता की शक्तियों के बीच संतुलन। संघ का निर्माण भी तभी होता है जब विविधता वाली इकाइयां एक ही प्रकार की सरकारी व्यवस्था को स्वीकार करके एकत्रित होती हैं। ऐसी सरकार केवल तभी सफल होती है जब एकता की भावना दृढ़ हो। इकाइयों में कुछ समान तत्त्वों का होना जरूरी है जिससे एकता की भावना कायम रह सके। इकाइयों को बांधने वाली इस प्रकार की शक्ति, संस्कृति, धर्म तथा समान विरासत पर आधारित हो सकती है। इस संदर्भ में, राष्ट्रवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि भारत में स्वतंत्रता के लक्ष्य ने विविध समूहो को राष्ट्रवाद की भावना से जोड़ दिया था। इसी प्रकार, एशिया और अफ्रीका के कई देशों में राष्ट्रवादी संघर्ष के समान लक्ष्य की परिणति संघीय व्यवस्था मे हुई।

संघ के अस्तित्व में आने पर नीतियों का निर्माण करते समय इकाइयों की विविधता का ध्यान रखना आवश्यक है। इकाइयों में प्रायः आकार, जनसंख्या और आर्थिक विकास के स्तर को लेकर असमानता पाई जाती है। इन असमानताओं के बावजूद इन

इकाइयों को समानता का दर्जा दिया जाना चाहिए जो विधान मडलो मे प्रतिनिधित्व के रूप मे सुनिश्चित किया जाता है। सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के संबंध में यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि कम विकसित क्षेत्र वंचित अनुभव न करे। अतः इकाइयों के समान विकारा पर बल दिया जाना चाहिए। संघ को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि संघीय इकाइयों के विभिन्न क्षेत्रों का विकास संतुलित हो।

संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका का एक विशेष महत्त्व है। यह संविधान की संरक्षक है तथा सांविधानिक प्रावधानों की प्रमाणिक व्याख्या के लिए भी उत्तरदायी है। यह विभिन्न प्रकार के विवादों का भी निराकरण करती है। संघीय व्यवस्था में एक निष्पक्ष और स्वतंत्र न्याय व्यवस्था का होना आवश्यक है।

संघीय इकाइयो के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था विधायिका के एक सदन में की जाती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेट, जर्मनी में बुंदास्टेट, स्विट्ज़रलैंड मे स्टैंडरैट और भारत में राज्य सभा में इस प्रकार के प्रतिनिधित्व का प्रावधान है। किसी भी संघ के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि इकाइयों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले जिससे कि विधान मंडल में इकाइयों की आवश्यकताओं पर ठीक से विचार हो सके। कार्यपालिका के गठन में भी इस प्रकार के सतुलन की आवश्यकता होती है। भारत की केंद्रीय मंत्रि-परिषद विभिन्न क्षेत्रों से मंत्रियों को लेकर क्षेत्रीय संतुलन बनाने का प्रयास करती है।

एकात्मक और संघात्मक संविधानों के गुण-दोष

एकात्मक संविधान में शक्ति एक स्तर पर केंद्रित होती है और सरकार के प्रयोजन की एकता का प्रावधान किया जाता है। यह एक एकल कार्यकुशल सरकार निरुपित करती है। सरकारी प्रशासन में भी अधिकाधिक एकरूपता पाई जाती है। समाज में विघटनकारी प्रवृत्तियों का सामना करने हेतु एकात्मक सरकार बेहतर स्थिति में होती है। नागरिकों में सरकार की एक स्पष्ट परिभाषिक इकाई के प्रति निष्ठा की भावना से राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित होती है। परंतु कभी-कभी राष्ट्रवाद अधिक आक्रामक हो सकता है तथा उसका दूसरों देशों में विस्तार हो सकता है।

अतीत में औपनिवेशिक देशों में एकात्मक सरकारें रही हैं। एकात्मक सरकार यह निर्णय ले सकती है कि शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाना है तथा कौन-कौन से कार्य दूसरे अभिकरणों अथवा स्थानीय अभिकरणों को हस्तांतरित किए जाते हैं। इस प्रकार उसकी कार्यपद्धति में अधिक लचीलापन होता है। एक स्तर पर शक्ति का केंद्रीकरण होने पर कानूनों, नियमो तथा प्रशासनिक कार्यो में अधिक एकरूपता रहती है और अधिकार क्षेत्र संबंधी संघर्ष भी कम होते हैं। सरकार तथा प्रशासन अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत प्रक्रियाओं का अनुसरण कर सकते हैं।

दूसरी ओर, एकात्मक सरकार मे केंद्र सरकार पर अत्यधिक कार्यभार आ जाता है। स्थानीय मामलों को अधिक प्रभावशाली ढंग से निपटा पाने की स्थिति में होने के बावजूद स्थानीय इकाइयों की

कोई सांविधानिक मान्यता नहीं होती। एकात्मक स्वरूप विशाल और विविधतापूर्ण वाले देशो के लिए अनुपयुक्त है। सत्ता के एक ही स्तर पर केंद्रित होने के कारण एकात्मक सरकार के निरंकुश हो जाने का भय भी बना रहता है।

संघीय सरकार में शक्ति के विभाजन का स्पष्ट प्रावधान होता है। इसमें किसी भी कार्य को अधिकतम दक्षता से कर सकने में सक्षम प्राधिकरणों द्वारा शक्तियों के प्रयोग का प्रावधान होता है। कुछ ऐसे विषय जिनमें निर्णय लेने में एकरूपता जरूरी होती है (उदाहरण के लिए देश की सुरक्षा और विदेशी मामले) केंद्र सरकार के नियंत्रण में होते हैं। जिन मामलों में क्षेत्रीय पहल आवश्यक होती है तथा जो क्षेत्रीय परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होते हैं, वे संघीय इकाइयों को दे दिए जाते हैं। अतः संघीय व्यवस्था एकता तथा स्थानीय विविधता मे पूर्ण संतुलन रखने का उत्तम उदाहरण है। सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विविधताओं से पूर्ण किसी भी विशाल देश में इस प्रकार की सरकार को अधिक वरीयता प्राप्त है।

यह स्थानीय विविधताओं को मान्यता देती है तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए स्थानीय पहल को अधिकाधिक अवसर प्रदान करती है। स्थानीय स्तर की संस्थाओं को उनके अपने ही स्तर पर स्थानीय मामलों को निपटाने हेतु शक्तियां तथा उत्तरदायित्व देकर यह व्यवस्था जनता की अधिकाधिक भागीदारी का मार्ग प्रशस्त करती है। जनता स्थानीय महत्त्व की संस्थाओं के प्रति अधिक जागरूक होती है तथा उनमें अधिक रुचि लेती है। ये संस्थाएं लोगों को सरकार के क्रियाकलापों से अवगत होने का अवसर भी प्रदान करती है। लोकतंत्र लोगों को अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक बनाता हैं। लोग इस बारे में भी सचेत रहते है कि राज्य से उन्हें क्या-क्या मिलना चाहिए। राज्य से अधिकाधिक मांगें की जाती हैं। इस प्रकार की मांगें केवल व्यक्तियों द्वारा ही नहीं अपितु सामाजिक समूहों तथा क्षेत्रों द्वारा भी की जाती हैं। संघीय संरचना के अंतर्गत ये संस्थाएं राजनीतिक तंत्र को इन समस्याओं का समाधान करने की सुविधा प्रदान करती हैं। संघीय सरकार एक व्यावहारिक प्रकार की सरकार भी है। निस्संदेह, नए संघों पर किए गए एक अध्ययन में कहा गया है कि संघीय समाधान सर्वाधिक लोकप्रिय प्रतीत होता है। संघीय व्यवस्था शक्तियों के विस्तृत विभाजन का प्रावधान करती है। शक्ति को केंद्रीकृत करने के स्थान पर विकेंद्रित किया जाता है। यह स्वयं में ही सरकार में निरंकुश बनने की प्रवृत्तियों पर एक प्रभावकारी अंकुश लगाता है।

संघीय व्यवस्था में कुछ कमियां भी हैं। केंद्र सरकार संघीय इकाइयों से शक्तियों में भागीदारी करती हैं जिसके कारण कभी-कभी केंद्र सरकार की कार्यव्यवस्था पर भी सीमाएं लग जाती हैं। यह सुरक्षा तथा आर्थिक विकास के कार्यक्रमों मे अधिक स्पष्ट होता है। कुछ संघीय व्यवस्थाओं में विशेष परिस्थितियों में केंद्र सरकार को अधिक शक्तियां दिए जाने का प्रावधान होता है, जैसा कि भारतीय संविधान में आपातकाल का प्रावधान किया गया है। दो स्तरो की सरकारों के मध्य शक्ति का विभाजन कभी-कभी केंद्र और इकाइयों के बीच टकराव का रूप ले लेता है। टकराव के मुद्दों का समाधान करने हेतु न्यायपालिका सशक्त है। न्यायपालिका को कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी सौंपे गए हैं,

उदाहरण के लिए, संविधान के संरक्षण का कार्य। संघीय योजना में, न्यायपालिका को इस प्रकार दिया गया अधिक महत्त्व, न्यायपालिका तथा सरकार के अन्य अंगों जैसे कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच टकराव का एक नया आयाम देता है।

संघीय व्यवस्था देश के विभिन्न क्षेत्रों को सरकार व प्रशासन की इकाइयों के रूप में मान्यता देती है। लोग प्रायः किसी क्षेत्र-विशेष से अपनी पहचान बनाते हैं। ऐसी परिस्थिति में लोगों की निष्ठा देश और क्षेत्र के बीच बंट जाने का भय भी रहता है। अतः अनेक संघीय व्यवस्थाओं में क्षेत्रवाद एक महत्त्वपूर्ण खतरा बन रहा है।

एकात्मक तथा संघीय सरकारों के तुलनात्मक लाभों तथा हानियों को ध्यान में रखा जाना जरूरी है। इन सैद्धांतिक विचारों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण देश की सामाजिक, आर्थिक विशेषताएं, उसका आकार तथा सांविधानिक विकास के दौरान महसूस की गई ऐतिहासिक प्रक्रिया है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, विविधता और आकार यह निश्चित करते हैं कि किसी देश के लिए इन दोनों में से किस प्रकार की व्यवस्था उपयुक्त होगी। इसके अतिरिक्त, उस अवधि के दौरान विकसित होने वाली परंपराएं और संस्थाएं सरकार के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। हम संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में सरकारो के संघीय स्वरूप के विकास के संदर्भ में इन प्रक्रियाओं का अध्ययन कर चुके हैं।

कुछ नूतन प्रवृत्तियां

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास और राज्य की गतिविधियों में विस्तार के परिणामस्परूप, राजनीतिक व्यवस्था में शक्तियो का केंद्रीकरण हुआ है। कल्याणकारी राज्य के आदर्शो की स्वीकृति के साथ आर्थिक विकास चिंता का मुख्य विषय बन गया है। सेना तथा रक्षा का गठन एक ऐसे पैमाने पर किया जाने लगा है कि सरकार अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होती जा रही है। उस तरह की शक्तियों ने संघो को भी प्रभावित किया है, जिसके परिणामस्वरूप केंद्र सरकारे अधिक शक्तिशाली होकर उभरी हैं। ऐसी बहुत-सी गतिविधियां हैं जिनकी योजना केंद्र द्वारा बनाई जाती हैं तथा इकाइयां उन्हें केवल लागू करती हैं। केंद्र तथा इकाइयों के बीच की भागीदारी सदा समान नहीं होती। सभी पुराने संघों (संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, और स्विट्ज़रलैंड) को इन्हीं कारकों ने प्रभावित किया है।

विकेंद्रीकरण की पक्षधर प्रवृतियां भी साथ-साथ दृष्टिगोचर होती रहती हैं। वास्तव में ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन जैसी एकात्मक सरकारें, विविध प्रकार के दबावो मे रही हैं और उन्हें क्षेत्रीय समस्याओं से जूझना पड़ा है। कुछ क्षेत्रों तथा सामाजिक समूहों ने यह अनुभव किया है कि आर्थिक विकास की दृष्टि से उनकी उपेक्षा की जा रही है तथा उनकी पृथक संस्कृति और भाषा को आवश्यक प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है और यह भी कि अपने ही मामलों पर उनका पर्याप्त नियंत्रण नहीं है।

अतः ब्रिटेन में स्काटलैंड और वेल्स ने आर्थिक विकास तथा अपनी भाषा (*सिमरिक*) के विकास की मांगों को उठाया। 1970 के दशक में इन क्षेत्रीय हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दल प्रभावशाली हो गए। ब्रिटिश संसद शक्तियों के अंतरण के लिए एक विधेयक लाई। यद्यपि मांगें उठनी बंद

हो गई हैं परंतु इन पृथक् क्षेत्रों की समस्याएं प्रकाश में आ गई हैं।

फ्रांस में पृथक्-पृथक् प्रजातीय समूह हैं, उदाहरण के लिए कैल्टिक ब्रिटस, मिडी के दक्षिणवासी और कोर्सीकंस के दक्षिणवासी। इन समूहों की अलग-अलग भाषा-संबंधी विशेषताए है, जिसके बारे में वे जागरूक हैं। 1960 में राष्ट्रपति डी गौल (De Gaulle) ने तथा 1981 में राष्ट्रपति फ्रैनकौए मितरांड (Francois Mitterrand) ने क्षेत्रों को अधिक शक्तियां देने के ठोस निर्णय लिए।

स्पेन के उत्तरी भाग बैसक्वैस (Basques) तथा कैटालांस (Catalans) की अपनी भाषा और संस्कृति है। कुछ क्षेत्र यह दावा करते हैं कि उन्हें मध्यकालीन युग में स्थानीय अधिकार प्राप्त थे, जोकि उन्हें वापस दिए जाने चाहिए। 1970 तथा 1980 के दशक में, फ्रैंको के शासन के बाद उत्पन्न लोकतांत्रिक उथल-पुथल के दौरान, स्वायत्तता की मांग उठी। यह आंदोलन संख्या तथा तीव्रता, दोनों ही दृष्टियों से बढ़ता गया। क्षेत्रों को उनकी अपनी संसद, अपनी कर-व्यवस्था तथा अपनी भाषा के अधिकार से संबंधित स्वायत्तता मिली।

संघीय व्यवस्थाओं ने राज्यों के लिए अधिक विकेंद्रीकरण की आवश्यकता को अनुभव किया। कुछ सघीय व्यवस्थाओ मे 'सहकारी सघवाद' ने राज्यों को अधिक शक्ति प्रदान की है। भारत मे राज्यों की स्वायत्तता की मांग बढ़ी है तथा हाल ही राजनीतिक प्रवृत्तियों ने इस मांग को बढ़ावा दिया है। संविधान के 73वें और 74वें संशोधनों ने पंचायती राज संस्थाओं तथा निगम निकायों को सुस्पष्ट शक्तियां, कार्य तथा वित्त देकर सांविधानिक दर्जा प्रदान किया है।

केद्रीकरण और विकेंद्रीकरण दोनों से संबंधित दबावों का सामना संघीय तथा एकात्मक सरकारों को करना पड़ता है। सरकार के एकात्मक तथा संघीय स्वरूपो को अलग-अलग प्रकार मानने से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उनकी कार्यव्यवस्था को समझना तथा यह जानना कि विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं पर किस-किस तरह के दबाव आते हैं तथा उनका समाधान कैसे होता है।

अभ्यास

1. संसदीय एवं अध्यक्षीय सरकारों की व्याख्या कीजिए।
2. संसदीय और अध्यक्षीय शासन प्रणालियों के संम्मिश्रण के रूप में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का परीक्षण कीजिए।
3. ससदीय शासन प्रणाली की प्रबलता एवं दुर्बलता के बिंदुओं की समीक्षा कीजिए।
4. एकात्मक एवं संघीय सरकारों से आप क्या समझते है, दोनों के किन्हीं दो-दो लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
5. एकात्मक एवं संघीय सरकारों के गुण एवं दोषों का परीक्षण कीजिए।

6. सघात्मक शासन व्यवस्था के सफल कार्यसंचालन की शर्तों की विवेचना कीजिए।
7. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (क) सामूहिक उत्तरदायित्व
   (ख) परिसंघ
   (ग) कार्यपालिका नेतृत्व का महत्त्व
   (घ) संघों की नूतन प्रवृत्तियां
   (च) शक्तियों का पृथक्करण
   (छ) नियंत्रण और संतुलन

अध्याय 8

सरकार के अंग

राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने भू-भाग तथा उसमें रहने वाले लोगों के लिए अपनी संप्रभुता का प्रयोग करे। अपने कार्यों को पूरा करते समय यह विचारणीय है कि राज्य, जन- कल्याण संबंधी कार्य करे, तथा कानून और व्यवस्था को बनाए रखते हुए समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति के उद्देश्य की पूर्ति करे। समाज के कार्य संचालन के लिए कुछ निर्धारित विधियां कानून होती हैं जिनके अनुरूप विभिन्न प्रकार के झगड़ों का निपटारा किया जाता है। ये विधियां इस ढंग से बनाई जानी चाहिए जिससे उनकी विश्वसनीयता बनी रहे। विधियां समाज के कार्यसंचालन को विनियमित करती हैं और जनसाधारण उन्हें अनिवार्यतः अंगीकार करते हैं। अतः विधियों का निर्माण, उनका प्रभावी कार्यान्वयन तथा विवादों का निपटारा, राज्य के बुनियादी कार्य हैं जिन्हें वह पूरा करता है। ये तीनों कार्य क्रमशः विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका द्वारा संपन्न किए जाते हैं।

प्राचीन काल में ये तीनों कार्य राजा में निहित थे। राज्य की संप्रभुता का संपूर्ण भंडार राजा (अथवा रानी) थे तथा वही कानूनो की घोषणा करते थे, उनका अनुपालन अधिकारियों के माध्यम से करवाते थे तथा विवादों का निपटारा भी करते थे। वे सर्वोच्च कानून निर्माता होने के साथ-साथ कानून और न्याय का स्रोत भी थे। राज्य के इन तीनों कार्यों को अलग अलग करने की आवश्यकता तब महसूस हुई जब राज्य को अनगिनत और जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा। राजा के लिए आवश्यक हो गया कि वह इन कार्यों का भिन्न-भिन्न अभिकरणों को सौंप दे। प्राचीन यूनान और रोम के विद्वानों ने इन कार्यों को पृथक-पृथक माना एवं इस बात पर बल दिया कि इन तीनों शक्तियों के राजा में केंद्रित होने के कारण इन शक्तियों का दुरुपयोग संभव है। शक्ति का दुरुपयोग रोकना जरूरी था। संप्रभु को समाज के कल्याणार्थ कार्य करना था। समाज कल्याण को, *महाभारत* के 'शांति पर्व' और कौटिल्य के *अर्थशास्त्र*, दोनों में ही राज्य का उद्देश्य माना गया है। राजा की शक्ति पर रोक लगाना, शक्ति के दुरूपयोग को रोकने का एक तरीका था। शक्ति का दुरुपयोग रोकने की दृष्टि से यह प्रतिपादन किया गया कि विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका संबंधी तीनों शक्तियों का पृथक्करण हो। *शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत* की वकालत लॉक, बोदां व मौन्टेस्क्यू द्वारा की गई। इंग्लैंड में विकसित राजनीतिक संस्थाओं ने शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत को एक सैद्धांतिक आधार प्रदान किया और अमेरिकी संविधान में

प्रदत्त राजनीतिक प्रबंधनों ने इस सिद्धांत को युक्तिसंगत आधार प्रदान किया।

विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका संबंधी कार्यो के तर्कसंगत पृथक्करण के पश्चात् ये कार्य संबद्ध संस्थाओं को सौंप दिए जाते हैं, लेकिन सरकार के कार्यसंचालन की दृष्टि से इन सरकारी शक्तियों का पूर्णतः पृथक्करण उचित नहीं है। किसी भी संस्था की निरंकुश शक्ति की परिणति उसके दुरुपयोग में हो सकती है, अतः *शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत* को समुचित व्यवहार मे लाने के लिए *नियंत्रण एवं संतुलन के सिद्धांत* की व्यवस्था की जाती है। विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका संबंधी शक्तियों को प्रयोग करने वाली संस्थाओं को एक बार पृथक कर दिए जाने के बाद प्रत्येक संस्था को कुछ ऐसी शक्तियां प्रदान की जाती हैं जिनके माध्यम से वे एक-दूसरे की शक्तियों का प्रयोग करती हैं। उदाहरण के लिए, विधायी शक्तियां विधायिका के पास होती हैं, लेकिन दूसरे दो अंगों (कार्यपालिका व न्यायपालिका) के पास कुछ ऐसी शक्ति होती है जिनके द्वारा विधायी संस्थाओं पर रोक लगती है। इसी तरह, कार्यपालिका व न्यायपालिका की निरंकुश शक्ति के प्रयोग पर भी रोक लगाने के प्रावधान किए जाते हैं। यह प्रबंध अंततः सरकार को संतुलित ढंग से कार्य करने में सहायक होता है। अध्याय 6 में हम अमेरिका में शक्तियों के विभाजन तथा *नियंत्रण एवं संतुलन* के विषय में पढ़ चुके हैं।

भारतीय संविधान में संसदीय शासन व्यवस्था का प्रावधान किया गया है जिसमें कार्यपालिका व विधायी अंग एक-दूसरे के साथ अटूट संबंध रखते हैं, लेकिन न्यायपालिका उनसे स्वतंत्र है।

विधायिका

विधायिका का प्रमुख कार्य राज्य के कानूनों का निर्माण करना है। राज्य द्वारा अपनाए जाने के बाद कानून को राज्य की शक्ति प्राप्त हो जाती है। समाज के अन्य संगठनों के अपने-अपने कानून, नियम व प्रक्रियाएं होती हैं जिनका अनुपालन उन संगठनों के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। इसके विपरीत, राज्य द्वारा अपनाए गए कानून समाज के लिए बाध्यकारी होते हैं। अतः विधायिका राज्य एवं उसके कानूनों को वैधता तथा समर्थन प्रदान करती है।

संविधान संशोधन में भी विधायिका की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। एक नमनीय/लचीले संविधान में संशोधन साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया से हो सकता है, जैसे ग्रेट ब्रिटेन में। कठोर संविधान की संशोधन प्रक्रिया कठिन होती है, जैसे अमेरिका में। भारतीय संविधान ने संशोधन प्रक्रिया का मध्यम-मार्ग अपनाया है, जिसके अनुसार संविधान का संशोधन विधायिका के साधारण बहुमत द्वारा हो सकता हैं (जैसे संघ में नए राज्यों का निर्माण और राज्यों के द्वितीय सदन, विधान परिषदो की रचना अथवा उनको समाप्त किया जाना), दूसरी ओर कुछ संशोधन संसद के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा किए जाते हैं (जैसे मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक तत्वों में संशोधन)। तीसरी श्रेणी में संघ संबंधी मुद्दों के प्रावधान आते हैं जहां संविधान संशोधन प्रभावी तब होता है जब वह संसद के दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित हो चुका हो तथा कम से कम संघ के आधे राज्यों की विधायिकाओं द्वारा अनुसमर्थित

भी किया जा चुका हो। इन सभी मामलों में भारतीय राष्ट्रपति की सहमति अनिवार्य है।

विधायिका का विकास उन मंत्रणात्मक निकायों से हुआ जिनकी प्रस्थापना संप्रभु शासकों द्वारा शासन संबंधी मामलों में परामर्श हेतु की गई थी। जैसे-जैसे लोकतांत्रिक आंदोलन मजबूत होता गया, समाज के कई समूहों द्वारा यह मांग उठाई गई कि उनके प्रवक्ताओं को मंत्रणात्मक निकायों में स्थान प्रदान किया जाए। विवाद और विवेचन का प्रश्न यह था कि मंत्रणात्मक निकायों मे उनकी सदस्यता संबंधी मापदंड क्या हों, तथा सामाजिक गुटों के कौन-से सदस्य इन संस्थाओं में सम्मिलित होते हैं? यह निश्चय ही प्रतिनिधित्व के सिद्धांत संबधी वाद-विवाद का आरंभ था। समाज के किन समूहों के सदस्यो को इन निकायों मे सम्मिलित किया जाए? किसे प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए? यह कैसे निश्चित किया जाए कि प्रतिनिधित्व उचित है? इन विभिन्न प्रश्नों को लेकर एडमंड बर्क के समय से प्रतिनिधित्व के सिद्धांतों और प्रणालियों की विवेचना विभिन्न विद्वानों द्वारा होती रही है। वयस्क मताधिकार को अंततः लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व का रूप मान लिया गया जो समाज के प्रत्येक वयस्क सदस्य को समानता के आधार पर मतदान करने का अवसर प्रदान करता है। विधायिका एक ऐसी प्रतिनिधिक संस्था है जो समाज की अंतिम पसंद को प्रतिबिंबित करती है। विधायिका, कानून बनाने की अपनी सत्ता, इसी आधार पर प्राप्त करती है कि वह समाज का प्रतिनिधित्व करती है। संघीय व्यवस्था में, जहां राज्य छोटी-छोटी इकाइयों (राज्यों अथवा प्रांतों) को मिलाकर बनता है, संघीय इकाइयों को भी विधायिका में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है।

विधायिका एक विचारात्मक निकाय है जहां सामाजिक और राजनीतिक मामलो पर वादविवाद व विवेचन होता है। विधायिका क्योंकि संपूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए उसके विचार-विमर्श राष्ट्रीय महत्त्व और सर्वसहमति की अभिव्यक्ति करते हैं। अपनी नीतियो का निर्धारण करते समय राज्य को इन बातों को ध्यान में रखना पड़ता है।

कार्यपालिका के कार्य, विधायिका की सतत संवीक्षा (छान-बीन) के आधीन होते हैं। संसदीय व्यवस्था में यह नियंत्रण प्रत्यक्ष होता है क्योंकि कार्यपालिका के सदस्य विधायिका के भी सदस्य होते हैं। इस तरह कार्यपालिका विधायिका से उत्पन्न होती है। संसदीय विवेचनों और प्रश्नो द्वारा कार्यपालिका के कार्यों पर प्रभावी अंकुश लगा रहता है। कार्यपालिका को विधायिका के समक्ष अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार, विधायिका राज्य के कार्यक्षेत्र पर प्रभावी नियंत्रण लगाती है तथा लागू होने वाली नीतियों के संबंध में समय-समय पर सुझाव देती है।

विधायिका राष्ट्रीय वित्त की परिरक्षक है। देश का बजट, विधायिका द्वारा पारित होता है, जो विभिन्न गतिविधियों हेतु राज्य को वित्त उपलब्ध कराता है। विधायिका के अनुमोदन के बाद ही सरकार को अपने विभिन्न कार्यो के लिए वित्त प्राप्त होता है। राज्य द्वारा किए गए खर्च का ब्यौरा सरकार को विधायिका के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है। राज्य की गतिविधि पर विधायिका का यह नियंत्रण अत्यधिक प्रभावी होता है।

राज्य की गतिविधियों में विस्तार के परिणाम-स्वरूप कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है।

कई अवसरों पर कार्यपालिका को प्रत्यायोजित विधान के माध्यम से कार्य करना पड़ता है। राज्य के कार्यों में वृद्धि के कारण विधायिका पर सतत दबाव बना रहता है। आधुनिक युग में विधायिका के महत्त्व में गिरावट के सबंध मे कई विचारको ने शिकायतें भी की है।

यद्यपि विधायिका को कई कार्य करने पड़ते हैं तथापि उसकी प्रतिनिधिक भूमिका आज की लोकतांत्रिक व्यवथाओं में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समय-समय पर होने वाले विधायिका के चुनाव के माध्यम से देश अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करता है तथा सरकार की गतिविधियों पर अंकुश लगाए रहता है।

एक-सदनी तथा दो-सदनी विधायिका : विधायिका के संगठन की दो व्यवस्थाएं हैं – एक सदन एवं दो-सदन। जब विधायिका का एक सदन हो तो ऐसी विधायिका को एक-सदनी विधायिका के नाम से जाना जाता है। अधिकांश मामलों में विधायिका के दो सदन होते हैं तब वह सामान्यतया दो-सदनी विधायिका के नाम से जानी जाती है। इन सदनों को उच्च सदन तथा निम्न सदन कहा जाता है। भारत में लोक सभा, ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमन्स तथा अमेरिका मे प्रतिनिधि सभा निचले सदन हैं। राज्य सभा, हाउस ऑफ लार्डस तथा सीनेट क्रमश· इन देशों के उच्च सदन हैं। दोनों सदनों का गठन विभिन्न प्रतिनिधित्व सिद्धांतों से होता हैं। निचले सदन के गठन का आधार प्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धांत है जबकि ऊपरी सदन के गठन में विभिन्न सिद्धांत अपनाए जाते हैं। अतः लोक सभा के चुनाव प्रत्यक्षतः पांच वर्ष के लिए होते हैं तथा राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्षतः राज्यो की विध।यिकाओं द्वारा होता है। उसमें विशेष योग्यताओं के आधार पर कुछ सदस्य मनोनीत भी किए जाते हैं। प्रत्यक्ष चुनाव के कारण लोकतंत्र में निचला सदन यानी लोक सभा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। वित्त संबंधी मामलों सहित अनेक मामलों मे निचले सदन की शक्तियां अधिक होती हैं। ऊपरी सदन यानी राज्य सभा भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यो का निर्वाह करती है।

द्वितीय सदन मे महत्त्वपूर्ण मामलों में परिचर्चा और विवेचन सदस्यों को पुनः विचार के लिए एक और अवसर प्रदान करता है क्योंकि हो सकता है कि प्रत्यक्षत· निर्वाचित निचले सदन ने बदलते हुए जनमत के आधार पर भावावेश में या किसी क्षणिक विचारणीय विषय के कारण निर्णय लिए हो, जिन पर एकाग्रतापूर्वक विस्तार से चर्चा की आवश्यकता होती है। द्वितीय सदन में उन पर विचार-विमर्श तथा निर्णय हेतु और अधिक समय मिल जाता है।

द्वितीय सदन समाज के कुछ वर्गो के विशेष हितों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करता है। संघात्मक राज्यों में विधायिका के दो सदनों का एक महत्त्व और भी है। प्रथम सदन जहां पूरे देश का प्रतिनिधित्व करता है, द्वितीय सदन प्रांतों या राज्य इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। निम्न सदन के सदस्य निर्धारित निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने जाते हैं, जबकि उच्च सदन के प्रतिनिधि राज्यों द्वारा भेजे जाते हैं।

भारत में राज्य सभा का गठन राज्यों की विधान सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों द्वारा होता है, इसी प्रकार संघीय राज्य-

क्षेत्र भी अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। राज्य सभा में 12 सदस्य मनोनीत भी किए जाते हैं। अमेरिका के द्वितीय सदन (सीनेट) का गठन राज्यों द्वारा निर्वाचित सदस्यों से होता है। प्रत्येक राज्य सीनेट के लिए दो सदस्य निर्वाचित करता है। अमेरिकी सीनेट की सदस्य संख्या 100 है क्योंकि अमेरिकी संघ में 50 राज्य हैं।

विधायिका का निर्विघ्न संचालन उसकी अनुशासित कार्यशैली पर निर्भर है। विधायिका की बैठकों की अध्यक्षता ऐसे व्यक्ति द्वारा होनी चाहिए जो विधायिका की कार्यशैली की जटिलता को पूरी तरह समझता हो तथा बैठक को अनुशासित रूप में चलाने की क्षमता रखता हो। अध्यक्ष (स्पीकर) का चुनाव विधायिका के सदस्यों द्वारा होता है। वह उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। विधायिकाओं का गठन भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के सदस्यों द्वारा होता है, इसलिए विधायिका में अध्यक्ष का दलगत राजनीति से जुड़े रहने का प्रश्न लेखकों के लिए एक गंभीर चर्चा का विषय बना रहा है। इस दृष्टि से अध्यक्ष की स्थिति के विषय में दो प्रकार की परपराएं प्रचलित हैं – ब्रिटिश और अमेरिकी। ब्रिटेन में निम्न सदन का अध्यक्ष दलगत राजनीति से ऊपर माना जाता है और वह निष्पक्षता को बनाए रखता है। अपने निर्वाचन के तत्काल बाद ही वह अपने दल की सदस्यता का परित्याग कर देता है। साधारणतया सभी बड़े राजनीतिक दल उसे अपना सहयोग और समर्थन प्रदान करते हैं। अमेरिकी प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष अपनी दलीय सदस्यता को बरकरार रखता है। दोनों देशों के अध्यक्षों की स्थिति क्रमशः दीर्घकालीन चर्चाओं और बदलती परिपारियों के बाद मजबूत हुई है। अध्यक्ष की वर्तमान तटस्थ व सुदृढ़ स्थिति बनने से पूर्व उसकी स्थिति ब्रिटेन में 18वीं शताब्दी के मध्य तक राजतंत्र (क्राउन) और संसदीय दल के प्रवक्ता के बीच दोलायमान बनी रही थी। न्यायपालिका की तरह जो लगभग इसी दौरान स्वायत्त संस्था के रूप में परिणत हुई, अध्यक्ष पद भी इसी के सदृश बन गया। अमेरिका में जेम्स ब्राइस के विशिष्ट अध्ययन ने इस बात पर बल दिया कि विधायिका के लिए नेतृत्व और शासन आवश्यक है तथा एक अन्य लेखक का मत था कि विधायिका केंद्रीकृत और उत्तरदायी सत्ता हो। अध्यक्षों ने इस परंपरा का निर्वाह 19वीं शताब्दी के अंतिभ दशकों तक किया। दल के नेता के रूप में अध्यक्ष की स्थिति 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वीकृत हुई, यद्यपि इसके साथ ही बैठको के संचालन के लिए सदन की एक सशक्त समिति का भी प्रावधान हुआ।

ब्रिटेन और अमेरिका में अध्यक्ष की तटस्थ तथा दलगत स्थितियों को समझने के लिए दोनों देशों की संस्थागत व्यवस्था और राजनीतिक परंपराओं का ज्ञान आवश्यक है। ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था मे प्रधान मंत्री स्पष्टतः सदन का नेता होता है। विधायिका को एक ऐसे नेता की आवश्यकता पड़ी जो "सभा की वास्तविक इच्छा को प्रतिबिंबित कर सके", न कि दल की स्थिति को, जैसा कि जैरमी बैंथम ने कहा। उसके अनुसार एक ऐसे अध्यक्ष की आवश्यकता थी जो दलगत राजनीति से ऊपर हो। प्रधान मंत्री द्वारा बहुमत के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने को ध्यान में रखते हुए, एक ऐसे निष्पक्ष अध्यक्ष की आवश्यकता थी जो विधायिका में बहुमत प्राप्त दल तथा अल्पमत प्राप्त दल की

मध्यस्थता कर सके। ब्रिटिश अध्यक्ष की यह स्थिति 18वीं शताब्दी में विकसित हुई तथा उसका पद, कार्यपालिका और विधायिका से ठीक उसी प्रकार पृथक् हो गया जिस प्रकार सरकार से न्यायपालिका पृथक् हुई।

अमेरिका में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत अमेरिकी राष्ट्रपति को पूर्णरूपेण प्रतिनिधि सभा से पृथक रखता है। प्रतिनिधि सभा में ऐसे नेता की आवश्यकता होती है जो सदन में दलीय दृष्टिकोण को संपुष्ट कर सके और यह भूमिका अध्यक्ष को प्राप्त हो चुकी है। अध्यक्ष सदन को नेतृत्व प्रदान करता है ताकि वह सदन की कार्यवाही का उचित और प्रभावी ढंग से संचालन कर सके।

भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत कुछ समय तक अध्यक्ष संबंधी उपर्युक्त दोनो व्यवस्थाएं विवाद का विषय बनी रहीं। तदुपरांत यह स्वीकार कर लिया गया कि अध्यक्ष अपने दल के प्रति निष्ठावान रहेगा जिसके फलस्वरूप अब अध्यक्ष का चुनाव पूर्णतः दलीय आधार पर ही होता है। प्रायः बहुमत प्राप्त दल, अध्यक्ष पद के प्रत्याशी के संबंध में, विरोधी दल से मंत्रणा करता है और आम सहमति प्राप्त कर ली जाती है। कार्यसंचालन में अध्यक्ष को सदन में होने वाले दलगत विवादों तथा मतभेदों से ऊपर उठकर तटस्थ रुख अपनाना पड़ता है। विधायिका में होने वाली चर्चाओं को सही दिशा देने तथा उसके सुचारु संचालन के लिए अध्यक्ष का ऐसा रुख महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है परंतु लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव लोक सभा सदस्य सदन के सदस्यों में से ही करते हैं। अध्यक्ष सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा उन्हें नियमित करता है। वह लोक सभा तथा राज्य सभा की संयुक्त बैठकों की अध्यक्षता भी करता है। लोक सभा अध्यक्ष के रूप में किए गए कार्यसंचालन के विरुद्ध किसी भी तरह की न्यायिक कार्यवाही नहीं की जा सकती। उसे लोक सभा में मतदान का अधिकार नहीं होता, लेकिन मत विभाजन के समय मतों की संख्या समान होने की स्थिति में उसे निर्णायक मत देने का अधिकार है। इसी प्रकार, राज्यों की विधानसभाएं अपने-अपने अध्यक्षो का चुनाव करती है। भारत में कई राज्यों के विधान सभा अध्यक्षों का आचरण स्वच्छ संसदीय प्रक्रियाओं के अनुरूप नहीं रहा है जिसके परिणामस्वरूप इस पद की गरिमा और प्रतिष्ठा में गिरावट आई है।

सदस्य संख्या बड़ी होने के कारण विधायिका अपने कार्यो को पर्याप्त समय व विशेषज्ञता का पूरा लाभ नहीं दे पाती। विधायिका की समितियां विधि-निर्माण संबंधी कार्य को विस्तारपूर्वक संपन्न करती हैं। वित्तीय मामलों एवं सरकारी विभागों के कार्यों की समीक्षा में भी इनका योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। भारतीय संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाला प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विधेयक पहले प्रवर समिति के पास भेजा जाता है जो उसकी विस्तारपूर्वक समीक्षा करती है तथा विधेयक में परिवर्तन के सुझाव भी देती है। सरकारी खर्च की समीक्षा में भारतीय संसद की लोक लेखा समिति तथा प्राक्कलन समिति की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। केंद्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों के कार्य-निष्पादन पर बराबर नज़र रखने के लिए 1993 में स्थायी समितियों का गठन हुआ। इन समितियों में राज्य सभा तथा लोक सभा दोनों के सदस्य होते हैं।

'विधायिका के स्तर में आई गिरावट' कई लेखको की चर्चा का विषय बनी रही है। इस गिरावट के कई कारण है। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना पर अधिकाधिक बल दिए जाने के कारण राज्य के कार्यक्षेत्रों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इनमें से कई कार्यो की प्रकृति तकनीकी है जिन्हें राज्य स्वयं प्रभावी ढंग से पूरा नहीं कर सकता। तकनीकी कार्यो में भी अभिवृद्धि हुई है। तकनीकी प्रकृति के संबंध में प्रवीणता के अभाव के कारण विधायिका के निर्वाचित सदस्य इस पर युक्तियुक्त रूप से विचार करने में असमर्थ होते हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी मुद्दों में वृद्धि के महत्त्व के कारण आधुनिक राज्यों के कार्यो में अतिरिक्त अभिवृद्धि हुई है। विधायिका के ह्रास का दूसरा कारण है दलीय व्यवस्था का विकास। वैचारिक आधार पर गठित तथा सुसंगठित इकाइयो से लैस राजनीतिक दल विधायिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं। वहां वाद-विवाद विचारणीय मुद्दों के वास्तविक गुण-दोष तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे दलीय हित-अहित से ओत-प्रोत होते हैं। राजनीतिक दल विधायी कार्यो के संबंध में अपना-अपना दृष्टिकोण अपनाते हैं। आधुनिक राज्य भी सरकार की कार्यपालिका का नेतृत्व प्रदान करने पर अधिक बल देते है। इन सब बातों के बावजूद, आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओ में विधायिका का महत्त्व बना हुआ है और वह राज्य पर प्रभावी नियंत्रण का कार्य सुचारु रूप से पूरा करती हैं।

कार्यपालिका

कार्यपालिका सरकार का सर्वाधिक सुस्पष्ट और प्रमुख अंग है। सरकारी पदाधिकारी लगभग रोज ही दिखलाई दे जाते हैं तथा अनेक अवसरों पर लोग उनके संपर्क में आते रहते हैं। उनके क्रियाकलापों से लोग प्रत्यक्षतः प्रभावित होते हैं। कभी-कभी तो सामान्य जनता द्वारा उन्हें ही सरकार समझ लिया जाता है। कार्यपालिका पर विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करने तथा सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दायित्व होता है।

विकास और महत्त्व की दृष्टि से कार्यपालिका सरकार का प्राथमिक अंग है। सुसंगठित विधायिका और न्यायपालिका के विकसित होने से पहले से ही कार्यपालिका द्वारा राज्य के कार्य संपन्न किए जाते थे। कानून प्रभावी तभी होते हैं जब उन्हें लागू कर दिया जाए। लागू न होने की स्थिति में कानूनो का कोई अर्थ नहीं रह जाता। राज्य के उद्देश्य की पूर्ति में कानून सहायक होते हैं। वास्तव में, राज्य की प्रभावोत्पादकता काफी सीमा तक कार्यपालिका की कुशलता पर निर्भर करती है।

नीति-निर्धारण व विस्तृत कार्यान्वयन के दो संघटनों के संदर्भ में कार्यपालिका के कार्यनिष्पादन को समझा जाता है। इन कार्यो के अनुपालन के संदर्भ में राजनीतिक कार्यपालिका व स्थायी कार्यपालिका में विभेद किया जाता है। भारत में, राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री तथा मंत्रीगण राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्य होते हैं तथा अफसरशाही अथवा लोकसेवाएं स्थायी कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व करती हैं। राजनीतिक कार्यपालिका का चुनाव अथवा चयन एक निर्धारित विशेष अवधि के लिए होता है; उदाहरण के लिए, भारत में यह कार्यकाल 5 वर्ष है। स्थायी कार्यपालिका सरकारी सेवाओं मे स्थायी पदों पर आसीन रहती है। एक

संसदीय शासन व्यवस्था में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, राजनीतिक कार्यपालिका विधायिका के साथ जुडी होती है। अमेरिकी राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष चुनाव 4 वर्षो की अवधि के लिए होता है। लोक सेवाओं के सदस्यों की भर्ती एक निर्धारित व सुनिश्चित प्रक्रिया के माध्यम से एक विशेष अभिकरण द्वारा होती है। भारत मे केंद्रीय सरकार के पदाधिकारियों की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग नामक अभिकरण के माध्यम से होती है।

अमेरिका जैसी अध्यक्षीय शासन व्यवस्था मे, कार्यपालिका संबंधी शक्ति केवल एक व्यक्ति (राष्ट्रपति) में निहित होती है। दूसरी ओर, स्विट्ज़रलैंड जैसे देश में बहुल कार्यपालिका व्यवस्था का प्रचलन है, जहां संघीय परिषद् के सातों सदस्यों को समान शक्ति प्राप्त होती हैं तथा अध्यक्ष (प्रेजीडेट) का पद क्रम से बारी-बारी मंत्रियों को मिलता रहता है। संघीय परिषद् के सदस्यों का चुनाव विधायिका के दोनों सदनों (राष्ट्रीय परिषद् और राज्य परिषद्) द्वारा एक संयुक्त बैठक में किया जाता है। लेकिन संसदीय व्यवस्था के ठीक विपरीत, संघीय परिषद् के सदस्यो को अपनी तीन वर्ष की निर्धारित अवधि से पहले पदमुक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार स्विस व्यवस्था अध्यक्षीय तथा संसदीय शासन प्रणालियों के लक्षणों का सम्मिश्रण है।

आधुनिक जनकल्याणकारी राज्यों के कार्यो में विस्तार के फलस्वरूप राज्य अभिकरणों के सामाजिक व आर्थिक क्रियाकलाप बढ़ गए हैं। परिणामस्वरूप नागरिक अपने कार्यों के लिए विभिन्न राज्य अभिकरणों के संपर्क में आते हैं।

कार्यपालिका कई विधायी कार्य भी संपन्न करती है। संसदीय शासन-व्यवस्था में विधायिका और कार्यपालिका काफी सीमा तक संबंधित अथवा एक-दूसरे से जुड़ी-जुडी रहती हैं। प्रधान मंत्री तथा मंत्रीगण किसी राजनीतिक दल अथवा दलों के गठबंधन से संबंधित होते हैं, जिसे विधायिका में बहुमत प्राप्त होता है। विधायिका के कार्यसंचालन तथा विधायी कार्यक्रम पर इन्हीं राजनीतिक दलों का वर्चस्व रहता है। अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में भी राजनीतिक दलों का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है, हांलाकि यह उस सीमा तक प्रत्यक्षतः नहीं, जैसा कि संसदीय शासन प्रणाली में दिखाई देता है।

राजनीतिक तथा अन्य कई मामलों से घिरे होने के कारण भी विधायिका विधायी कार्यक्रम हेतु आवश्यक एवं पर्याप्त समय नहीं दे पाती। अतः पहल करने के अधिकाधिक मामले कार्यपालिका को हस्तांतरित हो जाते हैं। विधायिका संबंधी कार्यो के संचालन क लिए तकनीकी निपुणता की भी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, किसी विधान का प्रारूप तैयार करते समय कानूनी पक्ष को ध्यान में रखना ज़रूरी है। कई मामलो मे जहां ब्यौरेवार तकनीकी जानकारी जरूरी है और विधायिका के सदस्य उससे अवगत नहीं होते, ऐसी स्थिति में कार्यपालिका को ही उन्हें देखना पड़ता है। कुछ ऐसी विधायी शक्तियां कार्यपालिका को सौंप दी जाती हैं जिन्हें प्रत्यायोजित विधान के नाम से जाना जाता है। आधुनिक राज्यों में क्षेत्र और उपलब्धियों दोनों की दृष्टि से प्रत्यायोजित विधान में पर्याप्त वृद्धि हुई है। प्रायः विधान पक्ष मोटे तौर पर सिद्धांतों की रूपरेखा बना देता है और शेष कार्यों की जिम्मेदारी कार्यपालिका को दे दी जाती है।

राज्य की नीतियो तथा कानूनों को लागू करते समय कार्यपालिका को कुछ नियम-विनियम बनाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, एक राजमार्ग बनाने के लिए भूमि का अधिग्रहण ज़रूरी है जिसके लिए भू-स्वामियों को मुआवज़ा देना होता है। लगभग सभी मामलो में ऐसे निर्णय कार्यपालक अभिकरणो द्‌वारा ही लिए जाते हैं। सामान्य कानूनों को लागू करने के लिए उनके संबंध मे नियम व विनियम बनाना भी आवश्यक हो जाता है। इन नियमों व विनियमों का देश के कानून के अनुरूप होना ज़रूरी है।

अंतिम अपील के मामलों में प्रत्येक देश के कार्यपालिका प्रमुख को न्यायिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। न्यायालय द्‌वारा किसी व्यक्ति को दिए गए दंड में कार्यपालिका प्रमुख क्षमादान कर सकता है, परिवर्तन कर सकता है अथवा उसे भी निरस्त कर सकता है। भारतीय संविधान के अतर्गत भारतीय राष्ट्रपति को ऐसी शक्तियां प्राप्त हैं। वह दंड को निलंबित कर सकता है, निरस्त कर सकता है अथवा बदल सकता है। फौजी अदालत तथा मृत्युदंड के सदर्भ में भारतीय राष्ट्रपति को ये न्यायिक शक्तियां प्रदान की गई हैं।

आधुनिक काल में सरकार का कार्यपालिका अंग अधिक शक्तिशाली हो गया है। इस के कई कारण हैं। आर्थिक विकास के कार्यक्रमों तथा जनकल्याणकारी गतिविधियों ने सरकार के उत्तरदायित्वों में वृद्‌धि कर दी है। राज्यों की सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं में पर्याप्त वृद्‌धि हुई है। इन कार्यों को समाज में कानून और व्यवस्था को बनाए रखने के दायित्त्व से जोड़ दिया गया है। इन सभी मामलों मे पहल करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका पर ही है। कार्य के दबाव, राज्य के कार्यों की तकनीकी प्रकृति तथा राजनीतिक दलों की कार्यव्यवस्था की वजह से विधायिका की स्थिति मे गिरावट आई है। कार्यपालिका की बढ़ती शक्ति की प्रवृति निश्चय ही एक गंभीर चर्चा का विषय बन गई है। निस्संदेह यह एक चिंतनीय विषय है।

नौकरशाही

राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका में पहले ही भेद किया जा चुका है। कौटिल्य ने *अमात्य* को राज्य के सात तत्वों में से एक बतलाया है। राजनीतिक कार्यपालिका, जैसे प्रधान मंत्री व मंत्रि-परिषद अथवा राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है। भारत में उनका कार्यकाल पांच वर्षो का है जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति का चुनाव चार वर्षो के लिए होता है। उनकी पदावधि के पूरा होने के बाद राजनीतिक कार्यपालिका में परिवर्तन हो सकता है। परिवर्तन पहले भी हो सकते हैं, उदाहरण के लिए, विधायिका में दलीय स्थिति में परिवर्तन होने के बाद दूसरा प्रधान मत्री व मंत्रीगण सत्ता में आ जाते हैं। परवर्ती चुनावों में प्रायः विभिन्न राजनीतिक दलो के सदस्य निर्वाचित होते हैं। सरकार में प्रत्येक परिवर्तन के पश्चात राज्य की नीतियों व कार्यों में भी परिवर्तन हो, यह जरूरी नहीं है। नई कार्यपालिका के गठन की प्रक्रिया के दौरान सरकार को अपने बुनियादी कार्यों को जारी रखना पड़ता है। स्थायी कार्यपालिका अथवा नौकरशाही सरकार को निरंतरता प्रदान करती है।

कभी-कभी सरकार में परिवर्तन होने से देश में गड़बड़ी पैदा हो जाती हैं जैसे, कई देशों में बलात् राजपरिवर्तन या तख्ता-पलट के दौरान आतंक फैल जाता है। ऐसे अवसर भी हो सकते हैं जब सामाजिक गड़बड़ी व्यापक रूप ले ले। ऐसे

अवसरों के दौरान, सरकार के बुनियादी कार्यों का जारी रहना ज़रूरी है। नौकरशाही सरकार को स्थिरता एवं निरंतरता प्रदान करती है।

नीति-निर्माण और नीति-कार्यान्वयन में हम पहले ही भेद कर चुके हैं। राजनीतिक कार्यपालिका पहले यानी नीति-निर्धारण के लिए उत्तरदायी है और दूसरे को नौकरशाही पूरा करती है। *महाभारत* का 'शांति पर्व' कार्यपालिका के इन दो स्तरों का उल्लेख करते हुए मंत्रियों और अमात्यों में विभेद करता है।

राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा बनाई गई नीतियां तथा विधायिका द्वारा पारित कानून समाज में लागू करने के लिए ही होते है; यह कार्य नौकरशाही द्वारा पूरा किया जाता है। नीतियों तथा कानूनों की वास्तविक परख उनके प्रभावी कार्यान्वयन की ग्राहयता में है। नौकरशाही इस कार्य को पूरा करती है और संभवतः इसीलिए वह सरकार की रीढ़ कही जाती है।

विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए नीति-निर्धारण एवं नीति-कार्यान्वयन में भेद करना उपयोगी है और नीति-निर्धारण एक निरंतर प्रक्रिया है। कार्यान्वयन के समय निर्णयों की एक शृंखला अथवा श्रेणी बनना जरूरी हो जाता है। राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित व्यापक नीतियों को लागू करते समय नौकरशाही को हर रोज़ ऐसे निर्णय लेने पड़ते हैं। निर्णयों के तकनीकी पक्ष की दृष्टि से भी नौकरशाही की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। नीति-निर्धारकों को नौकरशाही अनेकों विषयों और समस्याओं के संबंध में प्रायः परामर्श देती है। कानून निर्माण करते समय उन पर ध्यान रखना जरूरी होता है। नीतियों के व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से नौकरशाही के परामर्श की जरूरत पड़ती है। नीति-निर्माण में भी नौकरशाही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। हालांकि नौकरशाही वैचारिक तथा कार्यात्मक रूप से राज्य का अनिवार्य हिस्सा बनी रही है, तथापि आधुनिक काल में उसका महत्त्व और बढ़ गया है।

'नौकरशाही' (दफ्तरशाही) शब्द की व्युत्पत्ति 17वीं शताब्दी में प्रचलित एक फ्रांसीसी प्रथा से हुई जब मंत्रीगण प्रशासन में अपनी मदद के लिए अधिकारियों का एक 'दफ्तर' (ब्यूरो) रखते थे। मंत्रियों में बार-बार परिवर्तन के कारण अधिकारी प्रमुख नीति-निर्धारक बन गए और इस प्रकार नौकरशाही स्वायत्त हो गई। नौकरशाही सरकार की कार्यपालिका का एक हिस्सा है जो पूर्णकालिक अधिकारियो को मिलाकर बनता है। वे अधिकारी पेशेवर होते हैं और राज्य की आंतरिक समस्याओं से निपटने के लिए प्रशिक्षित होते हैं। दूसरी ओर, बाह्य खतरों से बचने और राज्य की सीमाओं की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है। इस दृष्टि से 'नागरिक' और 'सैन्य' सेवाओं में विभेद किया जाता है।

कार्यपालिका के अनिवार्य हिस्से के रूप में नौकरशाही का विकास सरकार की एक आवश्यक संरचना के रूप में हुआ। पेशेवर प्रशासकों का निकाय होने के कारण, नौकरशाही के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे गैर-राजनीतिक व निष्पक्ष ढंग से कार्य करें। एक बार जब राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्णय ले लिया जाता है तथा विधायिका जो स्वयं भी एक राजनीतिक निकाय है, द्वारा कानून पारित हो जाता है, तब नौकरशाही से अपेक्षा की जाती है कि वह उन्हें गैर-राजनीतिक ढंग से लागू करे।

आधुनिक राज्य के विकास के विभिन्न चरणो में यद्यपि नौकरशाही के विकास की खोज हो सकती है तथापि नौकरशाही के सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन 20वीं शताब्दी के लेखकों द्वारा ही किया गया। इन सिद्धांतों मे सर्वाधिक सुपरिचित सिद्धांत मैक्सवेबर का सिद्धांत है। मैक्सवेबर ने नौकरशाही के इन लक्षणों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है: (क) नौकरशाही के प्रत्येक कार्यालय के क्षेत्र कानून द्वारा निर्धारित होते हैं जिस पर उनका नियंत्रण होता है। (ख) अधीनस्थ और अति अधीनस्थों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था होती है जिसमे पहला दूसरे को नियंत्रित तथा संयोजित करता है। (ग) पदस्थितियो के अनुरूप कठोर औपचारिक आचरण किया जाता है। (घ) निष्पक्ष व्यवहार करना होता है ताकि वे राजनीतिक कार्यपालिका मे परिवर्तन आने पर भी स्वतंत्र रहें। (च) लोक सेवको का चयन मूलतः तकनीकी योग्यताओं के आधार पर होता है। (छ) अधिकारियों का वेतन निर्धारित होता है। उनकी नियुक्ति एक विशिष्ट व्यावसायिक जीवनवृति के लिए होती है जहां पदोन्नति, सेवा में उनकी वरिष्ठता तथा संतोषजनक कार्य पूरा करने के आधार पर की जाती है। पदोन्नतियों में उच्चाधिकारियों द्वारा मूल्यांकन महत्त्वपूर्ण होता है। मैक्सवेबर का तर्क था कि ये लक्षण एक दक्ष संगठन के बनने में मदद करेंगें। ये लक्षण नौकरशाही के एक 'आदर्श रुप' को परिभाषित करते हैं।

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने कार्यात्मक व व्यावहारात्मक श्रेणियों में नौकरशाही के छः तत्त्वों का वर्गीकरण किया है। इनमें से पहला पूरा किए जाने वाले कार्यों को इंगित करता है तथा दूसरा नौकरशाही के सदस्यों से अपेक्षित आदत अथवा आचरण की ओर ध्यान आकर्षित करता है। नियंत्रण और निरीक्षण का केंद्रीकरण, कार्यो मे विभेदन तथा नौकरशाही के सवर्गो और कार्यात्मक तत्त्वो की भरती हेतु योग्यताओं को परिभाषित किया जाता है। यथार्थतः, सुस्पष्टता, सामंजस्य और विवेक, नौकरशाही के सदस्यों के आदर्श आचरण अथवा मनोवृत्ति को इंगित करते हैं।

नौकरशाही की संकल्पना का प्रयोग गैर-सरकारी तथा निजी संगठनों की विशेषताएं जानने के लिए भी होता है। पीटर एम ब्लाव और अल्विन डब्ल्यू. गाउल्डनर, जैसे लेखक तर्क देते हैं कि नौकरशाहीकरण एक प्रक्रिया है जो उन संगठनों में पाई जाती है जिनके रूप और संरचना में कतिपय परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे-जैसे संगठन के आकार में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे संगठनों में नौकरशाही के लक्षण विकसित होते हैं। बड़े संगठनों मे प्रायः नौकरशाही की विशेषताएं सन्निहित होती है।

नौकरशाही की संकल्पना 'आदर्श प्रकार' के संगठन को इंगित करती है अर्थात् वह यह बताती है कि किस से कार्य होना चाहिए; लेकिन वास्तविक व्यवहार में, नौकरशाही का कार्यसंचालन, संगठन अथवा समाज के सर्वोतम हितों के अनुरूप नहीं होता, जिसके लिए सामान्यतया उन्हें कार्य करना चाहिए। कुछ लेखको का मानना है कि 'आदर्श प्रकार' की नौकरशाही प्रायः अपनी गुणवत्ता को खत्म कर देती हैं तथा कठोर और अकल्पनीय कार्यव्यवस्था में बदल जाती है। आइए, इन लेखको के इस तर्क के इस तरीके का परीक्षण करें। श्रेणी-कृत जीवन-वृति, वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति तथा वेतन में क्रमिक वृद्धि की निर्धारित दर आदि अधिकारियों की पहल-शक्ति में कमी तथा कार्यशैली

में रूढ़िवाद पैदा करते हैं। नौकरशाह समाज एवं सरकार मे प्रचलित स्थितियों से सतुष्ट रहते हैं तथा अभिनव परिवर्तनों का प्रायः प्रतिरोध करते है। लोक सेवको के वैयक्तिक आचरण में तब विलगाव का भाव उत्पन्न हो जाता है, जब नियत कार्यो के अनुपालन पर जन-साधारण की संतुष्टि को वरीयता दी जाती है। नौकरशाही मे कठोर नियमों तथा विनियमो को महत्त्व दिया जाता है। लेकिन नियम-विनियम आखिर बनाए तो इसीलिए जाते हैं जिससे कि संगठन सर्वाधिक अच्छे ढंग से कार्य कर लोगों के हितों की पूर्ति करें; जो उनसे अपेक्षित है। नियमों-विनियमों का उददेश्य निश्चित ध्येयों या लक्ष्यो की प्राप्ति है। नौकरशाही की कार्यव्यवस्था में नियमों-विनियमो का पालन प्राथमिक ध्येय बन जाता है। इस पर विचार किए जाने की आवश्यकता नही कि उनके परिणाम क्या होगे। नौकरशाही नियमों-विनियमों का अकल्पनीय तथा कठोर ढंग से पालन करती है। रॉबर्ट के. मर्टन इसे 'ध्येयों का विस्थापन' कहता है जिसमें गौण ध्येय महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। तब सगठन मे कार्यकुशलता की उपेक्षा की जाती हैं, और, इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उसके ग्राहकों या जन-साधारण को संतोष होगा या नही।

आज नौकरशाही को प्रायः नकारात्मक लक्षणों, जैसे लालफीताशाही, विलंब, नियमों व विनियमों का कठोर अनुपालन तथा अधिकारियों की असहानुभूतिपूर्ण मनोवृति वाली संस्था माना जाता है। सरकारी विभागो तथा सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध नौकरशाही का नकारात्मक रुख होने का आरोप लगाया जाता है।

दक्ष तथा विश्वसनीय नौकरशाही के महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए भर्ती की समुचित व्यवस्था बनाने पर ध्यान दिया जाता है। भर्ती को पेशेवर आधार प्रदान करने के उद्देश्य से यह कार्य प्रायः विशेष अभिकरण को सौंप दिया जाता है। एक स्वतंत्र आयोग को भर्ती के लिए उत्तरदायी बना दिया जाता है। भारत में यह कार्य संघ लोक सेवा आयोग तथा राज्य सेवा आयोगो को सौंपा गया हैं। संघ लोक सेवा आयोग की निष्पक्षता को सुनिश्चित करने के लिए उसके संगठन तथा कार्यव्यवस्था का प्रावधान भारतीय संविधान में दर्ज है। भर्ती लिखित परीक्षा तथा साक्षात्कार के आधार पर होती है। अमेरिका मे जहां भर्ती की व्यवस्था योग्यताओं और निपुणताओं पर आधारित है (जो पद के लिए आवश्यक है), वही ब्रिटिश व्यवस्था प्रत्याशी की शैक्षिक और मानसिक क्षमताओं पर अधिक बल देती है। भारत में 'सामान्यज्ञ' सरकारी नौकरों की भर्ती के लिए ब्रिटिश व्यवस्था का अनुकरण किया गया है। सरकारी नौकरों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वे पेशेवर गुणों से लैस हों। कुशल और सेवानिष्ठ सरकारी नौकरों के संगठन के लिए सुनियोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम अनिवार्य हैं। भारत में विभिन्न संघीय और राज्य सेवाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए सुविवेचित संस्थाओं की व्यवस्था की गई है।

आधुनिक राज्य के कार्यो मे बढ़ती जटिलता के कारण प्रशासन में 'विशेषज्ञों' (Specialists) की भूमिका पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इनमे से कई कार्यो के संबंध में 'सामान्यज्ञों' की मात्र बुनियादी क्षमता और प्रशासकीय निपुणता ही आवश्यक नहीं हैं बल्कि उनमे विशेष क्षेत्रों जैसे,

विज्ञान, प्रौद्योगिकी व प्रबंध व्यवस्था का व्यावसायिक ज्ञान भी आवश्यक हो गया है। अतः आधुनिक परिस्थिति में 'सामान्यज्ञ ' व 'विशेषज्ञ' का विलयन महत्त्वपूर्ण ही नहीं अपितु परमावश्यक हो गया है। भारत के विशिष्ट क्षेत्रों में प्रशासकीय पदों पर प्रायः वैज्ञानिकों और दूसरे विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। इसके अतिरिक्त, 20वीं शताब्दी के मध्य से सरकार के विकासात्मक कार्यो पर बल दिया जाने लगा है। भारत जैसे देशों में विकासात्मक प्रशासन पर नया बल, इसी तथ्य को दर्शाता है।

विकासात्मक गतिविधियों में राज्यों को सक्रिय भूमिका अदा करनी पड़ती है और इसमे नौकरशाही की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कार्यों में इस परिवर्तन पर दिए जाने वाले बल का अभिप्राय नौकरशाही की प्रकृति में परिवर्तन है। विकासात्मक प्रशासन, नौकरशाही के पारंपरिक कार्यो में केवल बढ़ोतरी नहीं है बल्कि यह उसके अनुकूलन, मनोवृत्ति और आचरण में परिवर्तन को इंगित करता है। 1952 से भारतीय प्रशासन विकास का प्रमुख अभिकरण रहा है। प्रशासन से मांगें और अपेक्षाएं केवल कानून और व्यवस्था को बनाए रखने तक ही सीमित नहीं हैं अपितु भारतीय समाज में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को लाना है। प्रशासन के द्वारा समय-समय पर उठाए गए कदमों का मूल्यांकन परिणामों के संदर्भ में होता है। प्रशासन का ध्येय, सामाजिक परिवर्तन होता है। इसलिए इस परिवर्तन क लिए प्रशासकों में प्रतिबद्धता होना जरूरी है और इसलिए उनकी मनोवृत्ति तथा आचरण में अनुकूल परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। विकासात्मक प्रशासन लोगों के साथ औपचारिक संबंध नहीं रख सकता क्योंकि जनसाधारण ही कार्यक्रमों के लक्ष्य होते हैं। प्रशासकों को लोगों की विशेष मांगों तथा संतुष्टि को ध्यान में रखना पड़ता है। उन्हें आम लोगों तक पहुंचना होता है तथा उनकी सहभागिता सुनिश्चित करनी पड़ती है। जनता तथा प्रशासन में गहरा संबंध होता है। भारत जैसे देशों मे विकासात्मक प्रशासन के द्वारा नौकरशाही में बुनियादी परिवर्तन हुआ है। नौकरशाही के लिए एक और निष्पक्षता, अज्ञानता (गुमनामी) और दूसरी ओर विषयनिष्ठता तथा विकासात्मक प्रशासन के जनोन्मुख स्वरूप के बीच संतुलन बनाए रखना आवश्यक होता है।

भारतीय नौकरशाही केंद्र और राज्यों में शक्तियों के संसदीय विभाजन का पालन करती है। भारतीय नौकरशाही के दो संघटक हैं – संघ सेवाओं के अधिकारी तथा राज्य संवर्ग के अधिकारी। पहले की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग करता है और उनकी सेवा शर्ते केंद्रीय सरकार द्वारा निर्धारित एवं नियंत्रित होती हैं। राज्य संगठनों के अधिकारियों की भरती राज्य लोक सेवा आयोगों द्वारा होती है तथा वे संबद्ध राज्य के नियंत्रण में कार्य करते हैं। विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इन सेवाओं का वर्गीकरण होता है, जैसे समान्य प्रशासन, आरक्षी (पुलिस), राजस्व, सीमा शुल्क तथा उत्पाद शुल्क आदि। इन सेवाओं का समस्तरीय विभाजन वर्ग I, II व III में होता है। उनकी भर्ती के नियम तथा सेवा शर्ते विस्तृत रूप से निरूपित हैं।

भारतीय नौकरशाही में 'सामान्यज्ञ' सरकारी नौकरों की परंपरा की प्रधानता रही है। देश की विकासात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप इस परंपरा में परिवर्तन हुए हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर

बल दिए जाने के कारण भारतीय नौकरशाही के सामान्यज्ञ स्वरूप में परिवर्तन किए गए हैं।

1990 के दशक में उदारीकरण की नीतियों ने भारतीय नौकरशाही को प्रभावित किया है। राज्य द्वारा संचालित अनेक कार्यक्रम निजी क्षेत्र, सहकारी संस्थाओं तथा गैर-सरकारी अभिकरणों, गैर-सरकारी संगठनों आदि को हस्तांतरित किए जा रहे है। नौकरशाही को इन अभिकरणों के साथ साझेदारी में कार्य करना है।

विकासात्मक अनुकूलन के कारण भारतीय नौकरशाही में संक्रमण आसान नहीं रहा है। इस कारण भारतीय नौकरशाही के विरुद्ध प्रायः टीका-टिप्पणी और शिकायतें की जाती हैं। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से भारतीय राज्य संचालन में नौकरशाही के सकारात्मक पक्षों की सराहना की गई है तथापि नीति परिवर्तन के कारण आई चुनौतियों का उसे सफलतापूर्वक प्रबंधन करना होगा।

न्यायपालिका

न्यायपालिका सरकार का तीसरा अंग है इसका संबंध प्रमुखतया राज्य के बुनियादी मुद्दों, विवादों के निपटान, समाज मे कानून-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कानूनों को लागू करना तथा लोगों को न्याय प्रदान करने से है। पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि मानव समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाद होते रहते हैं और उनको सौहार्दपूर्ण ढंग से निपटाना राजनीतिक प्रक्रिया का प्रयोजन है। इस उद्देश्य की पूर्ति के विभिन्न साधनों में न्यायिक प्रक्रिया का स्थान शीर्षस्थ है। राज्य के कानूनों के अभाव में मानव समाज के, हॉब्स द्वारा चित्रित 'प्राकृतिक अवस्था' की ओर जाने की आशंका है। न्यायपालिका के माध्यम से समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए कानून, न्यायिक प्रक्रिया का आधार है।

राज्य की वैधता की प्रक्रिया में न्यायिक प्रक्रिया भी सहायक होती है। 'राज्य को शासन का अधिकार है', शासन समाज के लिए लाभकारी है तथा लोगो के हितों को पूरा करता है, जैसी आस्थाएं लोगों द्वारा स्वैच्छिक आज्ञापालन को सुनिश्चित करता है। इसी प्रकार, शासन और शासक सही हैं, लोगों को शासक से न्याय मिलेगा, आदि मान्यताओं के कारण राज्य को लोगों की स्वीकृति मिलती है। संभवतः इसीलिए लोग अन्यायपूर्ण शासन और अन्यायी शासक के विरुद्ध रोष प्रकट करते हैं।

समाज कल्याण के दृष्टिकोण से न्याय एक नैतिक अभियान है जो इस बात पर बल देता है कि क्या ठीक है और क्या गलत है। इस अर्थ में, वह व्यक्तियों के अधिकारों और दायित्वों का निरूपण करता है। संकीर्ण अर्थ में, न्याय राज्य के कानूनों को इंगित करता है जिनका पालन व्यक्तियों के लिए ज़रूरी है। इस प्रकार 'न्यायसंगत' और 'कानूनी' में भेद किया जाता है। न्यायपालिका मुख्य रूप से दूसरे यानी 'कानूनी पक्ष' से संबद्ध है, हालांकि न्याय के व्यापक सोच-विचार उसमें विद्यमान रहते हैं। वैयक्तिक मामलो में कानूनों को लागू करते समय न्यायालय को 'निष्पक्षता' तथा 'युक्ति युक्तता' के मानकों को ध्यान में रखना पड़ता है।

राज्य कानूनों का स्रोत है जो समाज के कार्य संचालन को विनियमित करते हैं। उन कानूनों का निर्माण विधायिका करती है। कानून के दूसरे प्रकार

भी हैं, जैसे प्रथागत कानून, जिन्हें ध्यान मे रखना पड़ता है। कानून राज्य के कार्यसचालन को सीमाबद्ध भी करते हैं। वे राज्य के उददेश्यों के संदर्भ में, संप्रभुता शक्ति की सीमाएं भी तय करते हैं। *वाल्मिकी रामायण*, *महाभारत* के 'शाति पर्व' और कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में धर्म के अनुसार राजा के आचरण की बात की गई है। सरकार और उसके विभिन्न अंगों की शक्तियों और कार्यों का निर्धारण आधुनिक राज्यो के संविधान के प्रमुख सरोकार हैं। ऐसा करते समय संविधान सरकारी शक्तियों की सीमाएं निर्धारित करता है। कानून राज्य की कार्यात्मकता को शासित करते हैं। राज्य द्वारा व्यक्तियो पर की जाने वाली ज्यादतियां, निरंकुश हस्तक्षेप व उत्पीड़न से सुरक्षा, न्याय द्वारा सुनिश्चित की जाती हैं। इस अर्थ में ही संविधान को देश का मौलिक कानून कहा जाता है तथा न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करती है।

राज्य में न्यायपालिका द्वारा बहुत-से कार्य किए जाते हैं। वह व्यक्तियों, व्यक्तियों तथा समूहों और व्यक्ति तथा राज्य के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटान करती है। ऐसा करते समय वह मामले से संबंधित उपयुक्त कानून का चयन करती है। भारत के उच्चतम न्यायालय के दो प्रकार के अधिकार-क्षेत्र हैं – प्रारंभिक और अपील संबंधी। जिन मामलों की सुनवाई सीधे उच्चतम न्यायालय के समक्ष हो सकती है, वे उसके मूल अधिकार-क्षेत्र में आते हैं, जैसे राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवाद और मौलिक अधिकारो का प्रवर्तन। अपील संबंधी अधिकार-क्षेत्र उन मामलों को इंगित करते हैं जिनमें उच्च न्यायालय ने निर्णय दे दिया है लेकिन एक पक्ष उस निर्णय के विरुद्ध अपील करने का इच्छुक है। अपील संबंधी अधिकार-क्षेत्र में तीन प्रकार के मामले आते हैं– सांविधानिक, दीवानी (सिविल) और फौज़दारी (आपराधिक)। न्यायपालिका के लिए कानूनों की व्याख्या करना तथा राज्य को परामर्श देना भी जरूरी हो जाता है। भारत का उच्चतम न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 143 के अंतगर्त परामर्श देने का कार्य करता है। इस प्रावधान के अनुसार राष्ट्रपति लोक-महत्त्व के किसी विषय पर उच्चतम न्यायालय की राय मांग सकता है। संविधान की व्याख्या करना, न्यायपालिका का एक महत्त्वपूर्ण काम है। ये व्याख्याएं, संविधान और राजनीतिक प्रक्रिया के संबंध मे महत्त्वपूर्ण होती हैं। संविधान संशोधन के संबध में संसद की शक्तियो के विषय में उच्चतम न्यायालय ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि इस संबंध में संसद की शक्तियां सीमित हैं – संविधान के मूल ढांचे में संसद परिवर्तन नहीं कर सकती। 1973 में केशवानंद भारती तथा 1980 में मिनर्वा मिल्ज़ के मुकदमों में दिए गए निर्णयों ने इस सीमांकन पर बल दिया। संविधान के मूल ढांचे के अर्थ की विस्तृत व्याख्या उच्चतम न्यायालय द्वारा समय-समय पर अनेक निर्णयों के माध्यम से होती रही है।

न्यायपालिका की कार्यात्मकता मे न्यायिक प्रक्रिया उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि कानूनी मुद्दे। प्रायः कहा जाता है "न्याय केवल होना ही नहीं चाहिए बल्कि ऐसा लगना भी चाहिए कि न्याय हुआ है।" न्यायपालिका द्वारा अपनाई जाने वाली विस्तृत प्रक्रिया में न्यायालय, न्यायाधीश, और तर्कों के माध्यम से अधिवक्ता आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

न्यायपालिका का सघ में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। संघ सरकार में केंद्रीय सरकार और संघीय इकाइयों के मध्य संविधान के माध्यम से एक समझैता होता है। इसी आधार पर सरकारी इकाइयों पर संविधान की सर्वोच्चता सिद्ध होती है। संघीय इकाइयों की शक्तियों के संदर्भ मे न्यायालय संविधान का संरक्षक है। इसी प्रक्रिया के अंतगर्त न्यायालय, संघ और राज्यों तथा परस्पर राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करता है।

संविधान अपने नागरिकों को अधिकार प्रत्याभूत (गारंटी) करता है। अमेरिकी संविधान में अधिकार-पत्र (बिल ऑफ राइट्स) तथा भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार दोनों देशों के नागरिकों के ऐसे ही अधिकार हैं। न्यायपालिका नागरिकों के इन अधिकारों की उपलब्धि सुनिश्चित करती है। यदि कोई भारतीय नागरिक अपने मौलिक अधिकारों के हनन से आहत महसूस करता है तो वह सीधे उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हो सकता है। मौलिक अधिकार उच्चतम न्यायालय के मूल अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। हम यह देख चुके हैं कि संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका के कार्यो के लिए अमेरिकी संविधान मे न्यायिक पुनरवलोकन का प्रावधान है। संविधान क्योंकि सर्वोच्च है इसलिए ऐसा पुनर्विचार करने की सभावना हो सकती है कि सांविधनिक प्रावधानों का अनुसरण हुआ है अथवा नहीं। उल्लंघन की स्थिति में विधायिका तथा कार्यपालिका के कार्यो को संविधान विरुद्ध घोषित किया जा सकता है। भारत में पुनरवलोकन मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों में लागू होता है – संघ और राज्य में शक्ति विभाजन, कार्यपालिका और विधायिका की शक्तियो के संबंध में तथा संविधान के तीसरे भाग द्वारा प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों के बारे में। अमेरिका और भारत में न्यायिक पुनरवलोकन के संबंध में एक दूसरा अंतर भी है। अमेरिका में जहां न्यायिक पुनरवलोकन का आधार "कानून की समुचित प्रक्रिया है", वहां भारत में "कानून द्वारा प्रस्थापित प्रक्रिया के सिद्धांत" का प्रचलन है। इस प्रावधान के चलते भारत में न्यायालयो की न्यायिक पुनरवलोकन की शक्ति नियंत्रित हो जाती है।

राज्य के दूसरे अंगों से न्यायपालिका की स्वतंत्रता, इसके महत्त्व और स्थिति को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण है। ऐसा न्यायधीशों की नियुक्ति, उनका कार्यकाल, वेतन तथा कार्य-शर्तो को सरकार की दो शाखाओ यानी विधायिका तथा कार्यपालिका से अलग रख कर किया जाता है। भारत मे राज्याध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए विशेष योग्यताएं सुनिश्चित हैं। उनका कार्यकाल भी सुनिश्चित होता है। संविधान तथा सरकार की कार्यप्रणाली, दोनों द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखा जाना चाहिए।

एकात्मक सरकार में न्यायपालिका का एक ही संगठन होता है जबकि संघात्मक शासन में संघ तथा राज्यों की अपनी-अपनी न्यायिक इकाइयां होती हैं। इस प्रकार भारत में उच्चतम न्यायालय शीर्षस्थ न्यायालय है और राज्यों में उनके उच्च न्यायालय। उच्च न्यायालय की देख-रेख में अधीनस्थ न्यायालय कार्य करते हैं। ज़िला स्तर पर दीवानी मुकदमों की सुनवाई ज़िला न्यायालय द्वारा तथा फौजदारी मुकदमों की सुनवाई सत्र-न्यायाधीश द्वारा की जाती है। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों और

अन्य मजिस्ट्रेटों के न्यायालय, जिला न्यायाधीश एवं सत्र न्यायाधीश के अधीन कार्य करते हैं। दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई एव मुंबई जैसे नगरों में न्यायिक कार्यो को मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट देखते हैं। सरकार के न्यायिक कार्यों का प्रबंध न्यायिक संगठन की इस श्रृंखला द्वारा किया जाता है।

भारत में सरकार की कार्यविधि में, जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायपालिका ने एक नया मोड़ ले लिया है। न्यायालय, कार्यपालिका द्वारा की गई चूक एवं गलतियों पर अधिक ध्यान देने लगे हैं। न्यायालयों ने प्रायः कल्याण के मुद्दों पर ध्यान दिया है, जैसे नगरों में बढ़ते प्रदूषण पर, और सरकार को एक सीमित समयावधि मे उपचारात्मक कदम उठाने के लिए निर्देश दिए हैं। ऐसे मुद्दो में इन दिनों बढ़ोतरी हुई है। न्यायालयों द्वारा दिए गए ये निर्देश, सरकार की शाखा, कार्यपालिका पर प्रभावशाली नियंत्रण सिद्ध हुए हैं।

अभ्यास

1. सरकार के तीन अंगों के नाम बताइए और उनके प्रमुख कार्य लिखिए।
2. विधायिका से आप क्या समझते हैं? एक-सदनी विधायिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. दो-सदनी विधायिका से क्या अभिप्राय है? दो-सदनी विधायिका के क्या लाभ हैं।
4. संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने का कार्य विधायिका कैसे करती है?
5. स्थायी और राजनीतिक कार्यपालिकाओं में विभेद कीजिए।
6. "न्यायपालिका सरकार का सर्वाधिक प्रमुख अंग है" के कथन को न्यायसंगत सिद्ध कीजिए।
7. एक लोकतांत्रिक ढांचे के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता कैसे महत्त्वपूर्ण है?
8. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिएः
   (क) प्रत्यायोजित विधान
   (ख) एकल एवं बहुल कार्यपालिका
   (ग) नौकरशाही

कठिन शब्द

अहस्तक्षेप (Laissez-faire) : इसका अर्थ है व्यक्ति की आर्थिक गतिविधियों मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किया जाना।

कूंडेटा (*Coup D'etat*) : "कूंडेटा" एक फ्रांसीसी शब्द है जिसका अर्थ है - सत्ता में अचानक परिवर्तन। सामान्य तौर पर कुछ व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिनके पास पहले से ही कुछ शक्ति होती है जैसे "सैनिक वर्ग"। यह क्रांति (revolution) से भिन्न है क्योंकि क्रांति आमतौर पर तब होती है जबकि सामान्य व्यक्ति बड़ी संख्या में सत्ता का विरोध करते हैं।

उपक्रमण (Initiatives) : प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक साधन जिसके द्वारा मतदाता अर्जी द्वारा किसी कानून या संविधान में संशोधन का प्रस्ताव कर सकते हैं। इसका प्रयोग स्विट्जरलैंड में और अमेरिका के कुछ राज्यों की स्थानीय सरकारों में होता है।

जन उत्तेजक (Demagogues) : वह राजनैतिक नेता जो जनकल्याण से अधिक सम्बद्ध सत्ता से है। ऐसे नेता जनप्रिय भावनाओं को उभारकर जनसामान्य का समर्थन प्राप्त कर लेते हैं।

नौकरशाही (Bureaucracy) : "दफ्तर" या "अफसरों" द्वारा शासन। इसका अर्थ सरकारी अफसर वर्ग है।

प्रदत्त विधान (Delegated Legislation) : कार्यपालिका द्वारा विधि निर्माण (कानून बनाने) का कार्य, जिसका अधिकार विधायिका द्वारा दिया गया हो।

परिसंघ (Confederation) : परिसंघ का अभिप्राय उस राजनीतिक व्यवस्था से है जिसको स्वतंत्र राज्य अपनी स्वायत्तता को कायम रखते हुए आपसी समझौतों के द्वारा निर्मित करते हैं।

बहुतंत्र (Polyarchy) : यह संकल्पना राबर्ट डाल की कृतियों से जुड़ी है। इसका अर्थ ऐसे समाज से है जिसमें प्रतियोगी हित समूह हों और राज्य का कार्य उनके बीच तालमेल बिठाना हो।

राजनीतिक व्यवस्था (Political System) : राजनीतिक व्यवस्था संस्थाओं, गतिविधियों और विभिन्न तत्त्वों के बीच सतत् संबंधों का जाल है। राजनीति विज्ञान की परंपरावादी

अवधारणा के अंतर्गत राजनीति के औपचारिक और संस्थागत स्वरूप पर ही बल दिया गया था। "राजनीतिक व्यवस्था" की अवधारणा राजनीति को एक व्यापक संदर्भ में देखती है और राजनीतिक गतिविधियो का राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक कार्यात्मक स्वरूप के संदर्भ में विश्लेषण करती है। राजनीति विज्ञान में इस विचारधारा का सबसे प्रमुख प्रवर्तक डेविड ईस्टन था। ईस्टन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के तीन उपागम होते हैं :

- निवेश (Input) के अंतर्गत 'मांग' (Demand) और 'समर्थन' (Support) सम्मिलित हैं। मांग से अभिप्राय लोगों की उन अपेक्षाओ से है जो वे राजनीतिक व्यवस्था से रखते हैं। "समर्थन" का अभिप्राय राजनीतिक समुदाय द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को दिए जाने वाले समर्थन से है।
- 'निर्गत' (Output) सरकार द्वारा लिए गए वे निर्णय होते हैं जिनके पीछे सत्तात्मक शक्ति होती है। अर्थात् कानून और नीतियां।
- प्रतिपुष्टि के माध्यम से नीतियों और सरकारी निर्णयों पर प्रतिक्रिया प्राप्त होती है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें व्यवस्था के कार्य संपादन की जानकारी भी उसे वापिस मिल जाती है और व्यवस्था अपना भावी व्यवहार सुधार सकती है।

मूल्यों का अधिकारिक विनियोजन (Authoritative Allocation of Values) : राजनीति की डेविड ईस्टन द्वारा दी गई परिभाषा। इसका अर्थ सरकार द्वारा लिए गए निर्णयों से है, जिसके द्वारा समाज में ससाधनों का वितरण इस प्रकार हो कि वह लोगों को सामान्यतः मान्य हो।

विधि का शासन (Rule of Law) : इसका अर्थ है स्वेच्छाचारी निर्णयों के बदले कानून की प्रधानता। यह लोकतंत्र का पर्याय सा हो गया है।

वैधता (Legitimacy) : इसका अर्थ है राजनीतिक व्यवस्था की लोगों द्वारा सामान्य मान्यता, जिसमें संस्थाओं और शासकों के प्राधिकार को उचित माना जाता है।

व्यक्तिवाद (Individualism) : इसके अनुसार स्वतंत्रता के लिए संपत्ति का अधिकार आवश्यक है। व्यक्तिवाद सरकार के सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को नियमित करने के अधिकार को सीमित करता है। इस सिद्धांत की धारणा है कि व्यक्ति स्वयं में एक साध्य है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं की प्राप्ति के लिए अधिकार मिलना चाहिए।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach) : यह दृष्टिकोण बीसवीं सदी के पांचवें दशक में शुरू हुआ। राजनीति विज्ञान के विश्लेषण में व्यक्ति के व्यवहार को यह

दृष्टिकोण अधिक महत्त्व देता है। राजनीतिक विश्लेषण में, वैज्ञानिक पद्धति से यह दृष्टिकोण जुड़ा हुआ है।

सर्वहारा वर्ग (Proletariat) : गरीब श्रमिक वर्ग जो अपने निर्वाह के लिए अपने श्रम का विक्रय करते हैं। इनके पास पूंजी नहीं होती।

समष्टिवाद (Collectivism) : समष्टिवाद के राजनीतिक सिद्धांत के अनुसार आपसी फायदे और कल्याण के उद्देश्य से उत्पादन की प्रक्रिया और वितरण पर समुदाय का सामूहिक स्वामित्व होता है। इसे दूसरे शब्दों में "राज्य समाजवाद" भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत सरकार सभी प्रमुख उद्योगों तथा सार्वजनिक उपयोग की सेवाओ का संवैधानिक तौर पर राष्ट्रीकरण करती है। उदारवादी लोकतंत्र में आमतौर पर समष्टिवाद ही "कल्याणकारी राज्य" की व्यवस्था का आधार बनता है।

सामान्य इच्छा (General Will) : "सामान्य इच्छा" के सिद्धांत का प्रवर्तन रूसों ने "सामाजिक समझौता" के अंतर्गत किया था। रूसों के विचार में, प्राकृतिक अवस्था के दौरान निजी संपत्ति के विचार के उदय के साथ ही परस्पर विरोध शुरू हुए। इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए मनुष्यो ने आपस में समझौता करके अपने सभी अधिकार एक सामूहिक सस्था को सौंप दिए। यही सामूहिक संस्था, सामान्य इच्छा अर्थात् संपूर्ण राष्ट्र की नैतिक इच्छा की प्रतिनिधि थी। इस "सामान्य इच्छा" में ही सामाजिक समझौता से उत्पन्न कर्त्तव्य निहित हैं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सभी व्यक्तियों की भागीदारी से होती है। इसके कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व भी लोगों को ही सौंपा जाता है। सामान्य इच्छा का सिद्धांत प्रतिपादित करके रूसों ने, व्यक्तियों को संप्रभु बनाया और लोकप्रिय संप्रभुता के विचार का भी प्रवर्तन किया।

संविधानवाद (Constitutionalism) : इसका अर्थ है स्वतंत्र प्रतिनिधि संविधान सभा द्वारा निर्मित लिखित सविधान की प्रधानता। इसका अर्थ यह भी है कि सरकार का सत्ता पर प्रभावकारी नियंत्रण हो। कानून का शासन हो जिससे लोगों को अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। आधुनिक लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य इन मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित है।